कालाकाँकर (अवध) के साहित्यिक राजकुमार

बन्धुवर कुँवर सुरेशसिंह

के

कर-कमलों

में

# निर्देश

# महावीर प्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-सन्धान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार !

—पन्त

संवत् १६२१ में रायबरेली के दौलतपुर गाँव के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज कुल मे एक बालक का जन्म हुआ। जन्म के आधे घण्टे बाद एक सुविज्ञ ज्योतिषी ने बालक की जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मन्त्र लिख दिया,—यही उस बालक के लिये वीणा-पाणि सरस्वती की सेवा और कृपा प्राप्त करने का आशीर्वाद था। यह आशीर्वाद सचमुच सफल हुआ।

जन्म के प्राय: ४० वर्ष बाद, उसी बालक ने अपने प्रौढ़ हाथों से 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का इतना सुन्दर सम्पादन किया कि उसके द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक नवीन जीवन का सञ्चार हो गया। उसीके उद्योग से नये-नये लेखक और कवि उत्पन्न हुए, और नये-नये गूढ़ गंभीर विषयों की चर्चा छिड़ी। हिन्दी-साहित्य के गद्य और पद्य की धारा एक ऐसी दिशा की

ओर वह चली, जहाँ से वह पीछे की ओर नहीं मुड़ सकती ; वल्कि उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ती जायगी। यह सब कुछ एक ब्राह्मण की अथक तपस्या का फल है। आज उसे तपस्या करते ७० वर्ष बीत चले। वे ही वृद्ध तपस्वी, हमारे हिन्दी-साहित्य के पूज्य आचार्य्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं।

हमलोगो को यदि किसी अच्छे पुस्तकालय मे जाने का सुअवसर मिले तो वहाँ 'सरस्वती' की पुरानी फाइले अवश्य देखें। यह सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका सन् १६०० में निकली थी। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के जन्मदाता मान्यवर बाबू श्याम-सुन्दर दास के प्रोत्साहन से स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने इस पत्रिका को जन्म दिया था। उस समय इसके ये पाँच सम्पादक थे—( १ ) बाबू श्यामसुन्दर दास ( २ ) स्व० बा० राधाकृष्ण दास ( ३ ) स्व० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ( ४ ) स्व० कार्तिक-प्रसाद खत्री ( ५ ) स्व० किशोरीलाल गोस्वामी। आचार्य्य द्विवेदीजी तब तक इसके सम्पादकीय मंडल मे नहीं आ सके थे। क्योंकि उस समय वे एक दूसरे ही क्षेत्र मे काम कर रहे थे।

बचपन में स्कूल की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये। बम्बई में ही इन्होंने गुजराती और मराठी सीखी तथा अंग्रेजी ज्ञान की अभिवृद्धि की। इसके बाद द्विवेदीजी ने रेलवे मे नौकरी कर ली। इसी क्षेत्र मे काम करते हुए इन्होंने समय-समय पर बम्बई, नागपुर, अजमेर और झाँसी मे निवास किया था। झाँसी में बंगालियो के साहचर्य्य से

द्विवेदीजी ने बंगला सीखी और वहीं संस्कृत काव्य और अलङ्कार-शास्त्र का भलीभाँति अध्ययन किया। इसी भाँति नौकरी करते हुए भी ये अध्ययन करते जाते थे। इन्होंने जो कुछ सीखा और समझा, वह केवल स्वाध्याय और स्वावलम्बन से। जहाँ-जहाँ गये कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहे। अंग्रेजी, बङ्गला, गुजराती. मराठी और संस्कृत का ज्ञान ता प्राप्त कर ही लिया, इसके अतिरिक्त स्कूल में पढ़ते समय फारसी की शिक्षा भी बचपन मे ही पायी थी।

बम्बई में रेलवे का काम करते समय द्विवेदीजी ने तार का काम सीखा था। झाँसी आने पर उन्होंने तार-सम्बन्धी एक पुस्तक अँग्रेजी में लिखी और नयी तरह से लाइन-क्लियर ईजाद करने में अपनी अद्भुत योग्यता दिखायी। उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दी-साहित्य मे भी नयी तरह से लाइन-क्लियर ईजाद करके सदैव के लिये अपने भक्तों के हृदय में बस जायँगे।

परन्तु, इसके लिये बहुत दिनों तक हिन्दी-संसार को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। रेलवे मे द्विवेदीजी का साहित्यमय हृदय बहुत दिनों तक उलझा न रह सका, निदान वह नौकरी उन्होने छोड़ दी।

रेलवे की नौकरी करते समय ही द्विवेदीजी ने भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखे थे जिनके कारण हिन्दी-संसार का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हो गया था।

अतएव 'सरस्वती' के सचालक स्व० घोष बाबू ने इन्हे अपने यहाँ बुला लिया और एकमात्र इन्हे ही सरस्वती का सम्पूर्ण सम्पादन कार्य्य सौप दिया। यह सन् १९०३ की बात है। बस, यही से हिन्दी-साहित्य के नवीन इतिहास का प्रारम्भ होता है। द्विवेदीजी के इसी सम्पादन-काल को हमलोग 'द्विवेदी-युग' कहते हैं।

इस युग मे द्विवेदीजी ने हिन्दी के गद्य-पद्य का अपने ढंग से परिष्कार किया। उनके पहले हमारे गद्य की भाषा ऊबड़-खाबड़ थी। उसमें कोई नियमित परिपाटी नहीं थो और न उसका कोई साहित्यिक स्टैंडर्ड था। कुछ लोग उर्दू मिली हुई हिन्दी लिखते थे, कुछ लोग संस्कृत से भरी हुई। और, कुछ लोग ठेठ हिन्दी के पक्ष में थे। ऐसी दशा मे हमारी राष्ट्रभाषा का कोई निश्चित स्वरूप नही था। द्विवेदीजी ने इस बात की चेष्टा की कि भाषा अप-टू-डेट और सीधी-सादी हो और सब तरह के भावों और विचारों को प्रकट करने में समर्थ हो। इसी नीति को सामने रखकर उन्होने हिन्दी के गद्य-पद्य को अपने मस्तिष्क के साँचे मे ढालकर सुन्दर सुडौल बना दिया। यद्यपि उस समय उनकी नीति और शैली के सम्बन्ध मे बहुत वाद-विवाद हुए थे, परन्तु अन्त में द्विवेदीजी की ही शैली लोक-प्रिय हो गयी। यह उनके आत्मबल का सुफल है। आज हम अपनी पुस्तकों में हिन्दी की जैसी भाषा पढ़ते हैं, वह द्विवेदीजो के श्रम-विन्दुओं से सिंचित होकर खिली और फली-फूली है।

द्विवेदीजी के कार्य्य-कलाप पर प० रामचन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे लिखते है—

"सरस्वती का सम्पादन-काल ही उनके जीवन में सबसे अधिक साहित्यिक श्रम का समय रहा। छोटी-बडी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर, इन लेखों मे अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप मे ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नये-नये विचारों की उद्भावनावाले निबध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में आनेवाले दो ही चार लेख, जैसे 'कवि और कविता' 'प्रतिभा' आदि मिलते हैं। पर, ये लेखन-कला या साहित्यिक विमर्श की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते।

......द्विवेदीजी के लेखों को पढने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों * के लिये लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेर-फेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच-छ तरह से पाँच-छ वाक्यों मे कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखो मे छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग बहुत मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने-

* यह बात उस समय के पाठकों की स्थिति को सूचित करती है। द्विवेदीजी को अपने युग का आरंभ सच पूछिये तो 'ककहरा' से ही शुरू करना पड़ा है।—ले०

बुझाने के काम में लाया जाता है। † उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।

व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदीजी ही हैं। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत-कुछ सतर्क कर दिया।

द्विवेदीजी कुछ दिनों तक बम्बई की ओर रहे थे, जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उनपर बहुत-कुछ पड़ा। मराठी कविता में अधिकतर संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता है। पद-विन्यास भी प्रायः गद्य का-सा ही रहता है। वंगभाषा की-सी कोमल-कान्त-पदावली उसमें नही पायी जाती। इसी मराठी के नमूने पर द्विवेदीजी ने हिन्दी मे पद्य-रचना शुरू की। पहले तो उन्होंने ब्रजभाषा का ही अवलम्बन किया। पीछे आपने ब्रजभापा एकदम छोड़ ही दी और खड़ी बोली मे ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का संस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन मे 'वर्ड्स्वर्थ' का वह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि "गद्य और पद्य का पद-विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिये।" पर, यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्स्वर्थ का वह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ था और वह आप अपनी उत्कृष्ट कविताओं मे

† उस समय नई पद्धति के प्रवर्त्तन के कारण वाद-विवाद का जोर भी बहुत था।—ले०

उसका पालन न कर सका था। द्विवेदीजी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविताओ के बीच-बीच में सानुप्रास कोमलपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।······पर, उनका जोर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिये। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गयी। · उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह मूर्त्तिमत्ता और वक्रता बहुत कम आ पायी जो रस संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।"

और, मैं निवेदन करूँ कि द्विवेदी-युग के बाद आधुनिक युग की कविताओं मे कवियों ने उन्हीं अभावों की पूर्ति निस्संदेह की है, जिनका उल्लेख शुक्लजी ने किया है। अस्तु।

जिस समय द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन प्रारम्भ किया था, उस समय सम्पादकाचार्य्य स्वर्गीय रुद्रदत्त शर्मा ने कहा था—"हिन्दी मे इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे! पत्र का चलना कठिन है।" किन्तु, आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। अतएव, परमात्मा को जब किसी आवश्यकता की पूर्ति करानी होती है, तब वह किसी व्यक्ति-विशेष को अपनी कृपा का पात्र बनाकर उसके हाथों असंभव को भी संभव बना देता है। उसीने, सयोग से द्विवेदीजी के हाथो "सरस्वती" का सफल एवं

अनुपम सम्पादन करा दिया। सरस्वती की पुरानी फाइलों में कैसी-कैसी अमूल्य सामग्री भरी हुई हैं। कोई ऐसा विषय नहीं, जिसपर गूढ़, गंभीर एवं मननीय लेख न छपा हो। द्विवेदीजी ने प्रोत्साहन दे-देकर बीसों लेखको और कवियों को तैयार किया, और जनता मे भी मासिक-पत्रों के पढ़ने की रुचि उत्पन्न की। द्विवेदीजी द्वारा तैयार किये हुए लेखक और कवि आज भी हिन्दी-साहित्य के स्तम्भ माने जाते हैं। उनके प्रिय शिष्य और हमारे प्रख्यात राष्ट्रीय कवि बा० मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी कविता को गतिवान किया है। प्रसिद्ध कहानी-लेखक प्रेमचन्दजी को उर्दू से हिन्दी के गद्य-क्षेत्र मे लाने का श्रेय भी द्विवेदीजी को ही है। इस भाँति, द्विवेदीजी ने एक हाथ से हिन्दी के पद्य-साहित्य को सँवारा, दूसरे से गद्य-साहित्य को।

द्विवेदीजी केवल हिन्दी लेखकों से ही सरस्वती मे लेख लिखवाकर सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने दूसरे भाषा-भाषी लेखकों को भी हिन्दी की सेवा के लिये उत्साहित किया। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक श्री सेन्ट निहाल सिंहजी से भी उन्होंने 'सरस्वती' में लेख लिखवाये। यह वह समय था जब कि हमारे यहाँ अंग्रेजी वेश और अंग्रेजी भाषा का बोलबाला था और हिन्दी को लोग तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। द्विवेदीजी ने, उस समय विदेशों में पढ़नेवाले भारतीय विद्यार्थियों से भी यात्रा-संबंधी लेख 'सरस्वती' में लिखवाकर उन्हें मातृभाषा का पुजारी बना लिया।

'सरस्वती' के सम्पादन के अतिरिक्त, द्विवेदीजी ने अंग्रेजी, बँगला और संस्कृत से अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। परन्तु, द्विवेदीजी की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचना-पूर्ण ही रही है। खड़ी बोली के परिष्कृत नमूने के लिये जो पद्य लिखे हैं, उनमे भी उनकी आलोचक वृत्ति वर्तमान है। इनकी आलोचनाओं मे कहीं-कहीं हास्य और व्यंग का गूढ मिश्रण है।

द्विवेदीजी ने एक निपुण माली की तरह हमारे साहित्योद्यान को काट छाँटकर परिष्कृत करने में बड़ी तपस्या की है। इनका शरीर जितना ही तपोवृद्ध है, हृदय उतना ही कोमल एवं स्नेहार्द्र है। इस समय द्विवेदीजी की अवस्था सत्तर वर्ष पार कर चुकी है। प्रायः आठ दस वर्ष से अस्वस्थ हैं। सन् १९२० से आप सरस्वती के सम्पादन कार्य्य से विश्राम लेकर एकान्तवास कर रहे हैं।*

आपके सत्तरवे वर्ष के उपलक्ष मे काशो की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने उत्सव करके आपको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेट किया तथा प्रयाग में इसी उपलक्ष में द्विवेदी-मेला हुआ।

हमारी यही शुभाकांक्षा है—

"आर्य, आपके मनःस्वप्न को लेकर पलकों पर
भावी चिर साकार कर सके, रूप-रङ्ग भर;
दिशि-दिशि की अनुभूति, ज्ञान, शत-भाव निरन्तर
उसे उठावें, युग-युग के सुख-दुःख अनश्वर
—आप यही आशीर्वाद दें, दैव यही वर!"

* देहान्त—२१ दिसम्बर, १९३८

# अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

वह ७० वर्षों का वृद्ध पुरुष, जिसकी आकृति से ही बुजुर्गी प्रकट होती है तथा जिसके बालों मे बुढ़ापा और पैरों की गति मे हृदय की स्फूर्ति है, कौन है ? अपनी बाह्य वेश-भूषा से 'सिक्ख' किन्तु अपनी बोल-चाल से हिन्दी-समाज का एक प्रतिनिधि। ये हैं विगत युग की हिन्दी-कविता के एक अन्यतम महारथी प० अयोध्यासिंह उपाध्याय।

इनका जन्म सं० १६२२ मे हुआ था। आप आजमगढ़ (यू० पी०) के निजामाबाद तहसील के निवासी हैं। वहाँ सिक्खों के महन्त बाबा सुमेरसिह एक काव्य-प्रेमी सज्जन थे। स्व० बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास के उद्योग से जैसा कवि-समाज किसी समय काशी मे स्थापित था, वैसा ही बाबा सुमेरसिंह ने निजामाबाद में स्थापित कर रखा था। उन्हींके द्वारा संचालित कवि-समाज मे उपाध्यायजी अपनी प्रारंभिक रचनाएँ पढ़ा करते थे। उन्हीं बाबा सुमेरसिंह की एक प्रत्यक्ष स्मृति उपाध्यायजी की वेश-भूषा है। अपना 'हरिऔध' उपनाम भी आपने उसी समय रखा था—अपने नाम के 'अयोध्या' तथा 'सिह' इन दोनो शब्दो का विपर्य्यय कर इनके पर्य्यायवाची शब्दो से आपने अपने इस उपनाम की सृष्टि की है। इस उप-

नाम-करण की छोटी-सी बात में ही जहाँ आपके साहित्यिक पाण्डित्य की सूचना मिलती है, वहाँ चिरपरिचित वस्तुओं में नवीनता की उद्भावना कर देने की क्षमता का भी परिचय मिलता है। यही क्षमता और यही दृष्टिकोण हम उनकी सम्पूर्ण कृतियों में पाते हैं।

उपाध्यायजी ने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। गद्य में आपने प्राय: उपन्यास और कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। "ठेठ हिन्दी का ठाट" ( स० १९५६ ), "अधखिला फूल" ( सं० १९६४ ), और अनूदित "वेनिस का बाँका", आपके उपन्यास हैं। "ठेठ हिन्दी का ठाट" और "अधखिला फूल" उपदेशात्मक एवं जनसाधारणोपयोगी, रोचक, सरल उपन्यास हैं। ये हिंदी की उस समय की कृतियाँ है, जब हमारे साहित्य में उपन्यास-तत्व का प्रवेश भी नही हो सका था। भाषा की दृष्टि से हिन्दी का कथा-साहित्य सर्वसाधारण के लिये कितना सुलभ बनाया जा सकता है, उपाध्यायजी के दोनो उपन्यास'ठाट' और'फूल' इसी बात के द्योतक हैं। किन्तु, "वेनिस का बाँका" उतना सरल उपन्यास नहीं, उसकी भाषा क्लिष्ट एव संस्कृत-गर्भित है। इन उपन्यासो को देखने से ही विदित हो जाता है कि उपाध्यायजी अति सरल और अति कठिन दोनों ही तरह की भाषा लिखने मे कितने निष्णात हैं। और, यही बात उनके पद्य-साहित्य के विषय मे भी कही जाती है। उनके 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' तथा अन्य कुछ सरल मुक्तक कविताओं में, भाषा बहुत सीधी-

सादी और साधारण व्यक्तियों तक के लिये सुगम है, तो 'प्रिय-प्रवास' केवल भाषा के पण्डितों और मर्म्मज्ञों के ही हृदयंगम करने की वस्तु है। उपाध्यायजी को भाषा की यह सुबोधता और गहनता उनकी साहित्यिक हस्तलाघवता को प्रदर्शित करती है। यदि हम ध्यान से देखे तो विदित होगा कि उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग अपनी उपदेशात्मक तथा उद्गारात्मक कविताओं मे किया है। इसके प्रतिकूल संस्कृतपूर्ण गहन भाषा का प्रयोग अपनी भावात्मक एवं प्राकृतिक शोभामय कविताओ में। संभवत: विषय की भिन्नता को देखते हुए ही उन्होंने ऐसा किया हो। कुछ उदाहरण—

ज्यों निकलकर बादलों की गोद से,
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी।
सोचने फिर-फिर यही जी में लगी—
आह, क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी॥
दैव, मेरे भाग में क्या है बदा,
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में।
या जलूँगी गिर अङ्गारे पर किसी,
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में॥

—'एक बूँद'

प्रिय पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ;
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है?
पल-पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती,
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला,
वह नवनलिनी-से नैनवाला कहाँ है?

—'प्रिय-प्रवास'

कुकुम-शोभित गोरज-बीच से
निकलते व्रजवल्लभ यों लसे *
कदन ज्यों कर वर्द्धित कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है।
असित-पुष्प अलंकृतकारिणी
सरद-नील-सरोरुह-रंजिनी
नवल सुन्दर-श्याम-शरीर की
सजल-नीरद-सी कलकान्ति थी।

—'प्रिय-प्रवास'

उपाध्यायजी की काव्य-भाषा के तीन नमूने, अपने-अपने प्रसंग के अनुरूप ही है—पहिली कविता उपदेशात्मक है, दूसरी

---

* 'लसे', 'विलसे', 'लसित', 'विलसित'—यह भाववाचक शब्द उपाध्यायजी को विशेष प्रिय जान पड़ता है। उनकी रचनाओं में इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है।

उद्गारात्मक, तीसरी भावात्मक। प्रिय-प्रवास से उनकी भावात्मक कविता की भाषा का एक और नमूना ऐसा भी दिया जा सकता है, जिसमे विभक्ति-रहित केवल संस्कृत ही संस्कृत है। भाषा की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि छद की दृष्टि से भी प्रिय-प्रवास संस्कृत वर्णवृत्त प्रधान है ही। बात यह है कि संस्कृत छंदों और शब्दो मे एक ऐसी गरिमा है जो प्राकृतिक शोभा-सम्बन्धी एवं भावपूर्ण कविताओ को गुरुता प्रदान कर देती है। प्रिय-प्रवास का कवि भी ऐसा जान पड़ता है मानों संस्कृत कवियों की परम्परा मे चल रहा हो, जिनके द्वारा इस प्रकार की कविताओ के लिये पीढ़ियों तक पूर्ण स्वर-सन्धान हो चुका है। साथ ही उसमे भाव-सृष्टि की अपेक्षा उक्ति-चमत्कार की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय काव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उक्ति-प्रधान ही है। कारण, हमारे यहाँ काव्य को एक प्रकार का वाग्विलास कहा गया है, और इस वाग्विलास मे हृदय के स्पन्दन की अपेक्षा वाणी का नैपुण्य अधिक रहता है। वाणी का यह नैपुण्य ही अलकारिक विधानों के वशीभूत होकर उक्ति बन जाता है। परन्तु, जब अलंकारिक विधानों के वशीभूत न होकर कवि स्वाभाविक हृदय से अपनी वाणी को उद्गीर्ण करता है, तब वह भावों की ही सृष्टि कर देता है, न कि उक्ति की। उक्ति मे मन की सूझ का परिचय मिलता है, भाव मे हृदय के स्पन्दन का। एक मे पाण्डित्य है, तो दूसरे में प्रतिभा। अपनी उक्ति-प्रधानता के कारण 'प्रिय-प्रवास' भी एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

निस्सन्देह 'प्रिय-प्रवास' नामक महाकाव्य उपाध्यायजी के साहित्यिक जीवन का एक गौरव स्तूप है। इस काव्य में भगवान कृष्णचन्द्र के जिस महत् किन्तु सरस जीवन का वर्णन किया गया है, वह अलौकिक न होकर लोकचक्षुओं-द्वारा हृदयगम्य हो गया है। जान पड़ता है, उपाध्यायजी उस पुरातन युग की कथा को ग्रहण करते समय आधुनिक युग की, प्रत्यक्ष में विश्वास करनेवाली वैज्ञानिक मनोवृत्ति को, नहीं भूले थे; इसी-लिये उस पौराणिक गाथा को स्वाभाविक घटना-क्रम से आधुनिक जीवन से एक कर दिया है। उस युग के परपीड़कों का संहार तथा उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर गोकुल का उद्धार, इन सभी घटनाओं का लौकिक दृष्टि से बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है।

उपाध्यायजी अपनी सरल कविताओं में मुहावरों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं। 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे', और 'बोलचाल' जैसी कविता-पुस्तकें, जान पड़ता है, उन्होंने केवल मुहावरों को बैठाने के लिये ही लिखी है। इस प्रकार की कृतियों को इस वृद्ध कवि के श्रांत जीवन का एक मनोविनोद ही समझना चाहिये। भाव-प्रधान कविताओं में मुहावरे प्रचुरता से बैठ नहीं सकते थे, इसलिये उन्हें उपदेशात्मक उक्ति-प्रधान पक्तियों मे ही पूर्ण आश्रय दिया गया। ऐसी कविताओ में यदि कहीं कोई उक्ति खिल पड़ी है तो अपने मुहावरे की खूबी ही के कारण। 'प्रिय-प्रवास' में भी उन्होंने एक स्थल पर अपने इस मुहावरे की

खूबी से ही असंभव को संभव, अलौकिक को लौकिक एवं स्वाभाविक कर दिया है ; जैसे—वर्षा के जल-प्लावन से डूबते हुए ब्रज के उद्धार में कृष्ण का अपूर्व कौशल—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में, ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र को।
सकल लोग लगे कहने उसे; रख लिया उँगली पर श्याम ने ॥

अन्तिम पंक्ति की मुहावरेदार व्यंजना पर ध्यान दीजिये—जनश्रुति चली आयी है कि कृष्ण ने गोवर्द्धन को उँगली पर उठा लिया था ; किन्तु कवि यहाँ कुछ और ही बात कहता है—कृष्ण ने लोगो की रक्षा के लिये ऐसी तत्परता दिखलायी कि मानो उसने पर्वत को उँगली पर ही उठा लिया हो ! कवि का यह कथन जितना चमत्कारपूर्ण, साथ ही उस अविश्वसनीय घटना को विश्वसनीय-सा बना देता है।

इसी प्रकार, 'प्रिय-प्रवास' मे कृष्ण सर्वत्र अपने लोक-रूप में ही देख पड़ते हैं, न कि अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाओं में वर्णित अपने अलौकिक रूप मे। प्राचीन युग के अनेक हिन्दी-कवियो ने जिस कृष्ण-चरित्र को बहुत-कुछ विकृत कर दिया है, 'प्रिय-प्रवास' द्वारा उपाध्यायजी ने उसका यथाशक्ति परिमार्जन कर दिया है।

इस वर्णनात्मक महाकाव्य में कई स्थल बड़े ही मार्मिक हैं ; जैसे—कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का दिग्दर्शन। उस करुण प्रसंग की विरह-वाणी पाठकों के हृदय को अपनी वेदना से आर्द्र कर देती है—यमुना के प्रवाह की तरह ही मानों करुणा की

एक कोमल धारा बड़ी दूर तक सुख-दुख की स्मृतियाँ लिये हुए बह चली हो।

'प्रिय-प्रवास' में प्रकृति की शोभा-सुषमा का सजीव चित्रण है। उसमे रूढ़ शैली में वर्णित सान्ध्य गगन की शोभा, वसन्त की वनान्त में व्याप्त वासन्तिकता, वर्षा की हरित कमनीयता तथा रास के समय शारदीय सुषमा के नयनाभिराम चित्र अपने समय के हिसाब से उच्च कोटि के हैं।

उपाध्यायजी ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो ही में कविताएँ लिखी है। 'प्रिय-प्रवास' लिखने के पहले आप व्रजभाषा मे ही कविताएँ लिखते थे। आपके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ व्रजभाषा की रचनाओ से ही हुआ है।

यद्यपि आधुनिक खड़ी बोली का प्रचार विशेषत: आचार्य्य द्विवेदीजी के समय से हुआ और उनके प्रभाव से कई कवियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, किन्तु द्विवेदी-युग के प्रभाव से बाहर उनसे पहले ही खड़ी बोली की ओर कुछ कवियो का रुझान हो चला था। भारतेन्दु-काल से ही व्रजभाषा के प्राचीन-वसन को बदलकर हिंदी-कविता को भाषा और भाव, दोनों को ही खड़ी बोली का परिधान देने का एक क्षीण प्रयास प्रारम्भ हो गया था। इन्हीं प्रयासियों में उपाध्यायजी भी है। किन्तु, द्विवेदीजी की भाँति उपाध्यायजी अपने अनुयायी अधिक न उत्पन्न कर सके। कारण, उपाध्यायजी केवल कवि हैं, इसके विपरीत द्विवेदीजी

२

कवि की अपेक्षा एक साहित्यिक नेता। 'सरस्वती' उनके नेतृत्व का साधन बनी थी।

हाँ, तो उपाध्यायजी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो ही मे कविताएँ लिखी हैं। स्व० पण्डित श्रीधर पाठक तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो ही में कविताएँ लिखी हैं, परन्तु उनकी खड़ी बोली ब्रजभाषा के पुट से अलग न रह सकी। कहीं-कहीं खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों के मिश्रण से खड़ी बोली की कविता मे कोमलता, मनोहरता अवश्य आ गयी है, किन्तु उसे किसी एक भाषा का नाम न देकर प्राय: मिश्रित भाषा कह सकते हैं। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन्होंने दोनों को उनकी स्वतंत्र मर्यादा में स्थित रक्खा है। किन्तु, खड़ी बोली को ब्रजभाषा के मिश्रण से पृथक रखकर, ब्रजभाषा की-सी जिस मृदुलिमा मधुरिमा की आवश्यकता थी उसकी पूर्ति तो आगे चलकर अति आधुनिक युग मे श्रीसुमित्रा-नन्दन पन्त की ही लेखनी से हुई, जिनके भाव और भाषा की मनोहरता का प्रभाव आज हिन्दी के नवयुवकों की एक बहुत बड़ी संख्या पर पड़ा है। स्व० पाठकजी खड़ी बोली को ब्रजभाषा द्वारा जो निकाई तथा प्रकृति सौंदर्य के भावों द्वारा जो 'मधुराई' प्रदान करना चाहते थे, वह महत्कार्य तो पन्तजी ने खड़ी बोली के स्वतत्र अस्तित्व में ही सुसम्पादित कर दिया है। इसके अतिरिक्त उपाध्यायजी ने 'प्रिय-प्रवास' द्वारा खड़ी बोली में जिस संस्कृतगर्भित गरिमा को स्थापित किया, उसको हिन्दी की

प्रकृति के अनुकूल एक और प्राञ्जल रूप पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी कविताओं में दिया है। इस प्रकार विदित होता है कि खड़ी बोली निरन्तर विकासशील है।

उपाध्यायजी की व्रजभाषा की कविताओं का एक संग्रह अभी हाल में 'रसकलश' नाम से प्रकाशित हुआ है। उपाध्यायजी ने इसमें साहित्य के सभी रसों की अवतारणा की है और आरम्भ मे रसों की एक विस्तृत विवेचना भी की है। इस प्रकार रसशास्त्र के पाठकों के लिये तो इस पुस्तक की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है, किन्तु भाव-काव्य की दृष्टि से इस पुस्तक की विशेषता कितनी है? 'रसकलश' को, प्राचीन पद्धति को सुरक्षित रखने-वाला एक 'शास्त्रीय ग्रन्थ' कहा जा सकता है, किंतु 'काव्य-ग्रन्थ' नहीं। काव्य-ग्रन्थ तो साहित्य-शास्त्र के किसी खास अंग की आर्डर-पूर्त्ति के तौर पर नहीं लिखे जा सकते, वे तो हृदयस्फूर्त्त भावकृति हैं जो सीधे हमारे जीवन में रस का संचार करते हैं। 'रसकलश' में उपाध्यायजी ने अपनी जिस वाणी-विदग्धता का परिचय दिया है, आज से शताब्दियों पूर्व उसी प्रकार का पांडित्य-प्रदर्शन काव्याचार्य केशवदास ने भी किया था, जब कि उन्होंने साहित्य के अलंकार और नायिका-भेद को ही अपने काव्य में निबद्ध कर दिया था। ऐसी कृतियाँ मानसिक व्यायाम से ही उत्पन्न होती हैं। अतएव इनके लिये भावुक सहृदयों को भी मानसिक व्यायाम करना पड़ता है। यों 'रसकलश' मे उपाध्यायजी के कुछ दोहे तथा ऋतु-वर्णन अच्छे बन पड़े हैं। उसमें कहीं-

कहीं आपने रहस्यात्मक उक्तियाँ भी प्रकट की हैं। आपकी रहस्यात्मक उक्तियाँ कबीर की अनुगामिनी हैं।

हम प्रारम्भ मे लिख चुके हैं कि उपाध्यायजी की कृतियों में जहाँ साहित्यिक पाण्डित्य की सूचना मिलती है वहाँ चिर परिचित ( पुरातन ) वस्तुओं मे ही नवीनता की उद्भावना कर देने की भी। 'रसकलश' में हम यही बात विशेष रूप से पाते हैं। उसमें प्राचीन नायिकाओ का वर्णन तो है ही, साथ ही कुछ नवीन नायिकाएँ भी हैं; जैसे—'परिवार-प्रेमिका', 'देश-प्रेमिका', 'लोक-सेविका' 'धर्म्म-सेविका', इत्यादि। ये नवीन नायिकाएँ किस रस के अन्तर्गत आ सकती हैं, इसका विचार रसज्ञ ही कर सकते हैं। किन्तु, इस नवीन नायिका-सृष्टि से एक बात स्पष्ट है कि लोगो को सामाजिक शिक्षा देने के लिये इनकी उद्भावना की गयी है। काव्य-द्वारा शिक्षा देने की यह वृत्ति उपाध्यायजी के 'प्रिय-प्रवास' में भी वर्तमान है। परन्तु, निवेदन है कि कवि का काम उपदेशक का काम नहीं है, यह तो व्याख्यान-मंच से कोई भी चतुर वक्ता कर सकता है। खड़ी बोली के उद्भट कवि स्व० पण्डित नाथूराम शर्म्मा 'शंकर' की अधिकांश कविताएँ इसी उपदेशकथन के कारण बोझिल होकर काव्य मे अपना विशेष स्थान नहीं बना सकीं। अनेक पुरानी रुचि के साहित्यिक काव्य में लोकोपयोगिता का आरोप कर उसे जनसाधारण के लिये उपदेशपूर्ण बना देने की इच्छा रखते हैं। इस प्रकार वे कवि के गौरव के प्रति एक शासक की-सी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। कवि की तो अपने

काव्य में बस इतनी ही सफल कला है कि वह केवल रस का उद्रेक मात्र कर दे।

अपनी ब्रजभाषा की कविताओं में उपाध्यायजी ने यत्र-तत्र पूरबी शब्दों का भी प्रयोग किया है, अवश्य ही इस ठेठ प्रयोग से कहीं-कहीं कथन में मार्म्मिक स्वाभाविकता भी आ गयी है। इस सम्बन्ध में संभवतः आपका यह विचार है कि "कोई भी साहित्यिक भाषा, स्थान-विशेष के शब्दों तथा प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रहती; बल्कि आवश्यकतानुसार भावाभिव्यञ्जन की पूर्ति के लिये अपना विस्तार करती रहती है।"

इधर उपाध्यायजी के पद्यों का प्रवाह वर्तमान युग की नयी दिशा की ओर भी बह चला है। द्विवेदी-युग के बाद की कविता जिस 'छायावाद' के नाम से बदनाम है, उपाध्यायजी भी अब उसी छायावाद के अन्तर्गत आ रहे हैं। वृद्ध होकर भी आप समय से पीछे नहीं रहना चाहते, पर इस प्रगति में भी आप अपने वृद्धत्व की उपदेशात्मक काव्य-वृत्ति को अलग नहीं रख पाते। एक उदाहरण—

क्या समझ नहीं सकती हूँ
प्रियतम, मैं मर्म्म तुम्हारा ?
पर व्यथित हृदय में बहती,
क्यों रुके प्रेम की धारा ?

जब अचल कमल दल आँखें

तब इस वसुधा-तल को ही
थीं सुर-पुर सदृश बनातीं,
आँखो में आया पानी;
था कितनी प्यास बुझाता ?
उसकी बूँदों से जीवन
था परम पिपासित पाता ?
उस काल नही किस जन के
मन के मल को था धोता ?
जिस काल तुम्हारा मानस
पावन तरङ्गमय होता !

इन उद्धृत अंशों में एक 'पतिप्राणा' रमणी के उद्गार हैं। आपकी इस शैली की कविताओं का संग्रह 'स्वर्ग-संगीत' नाम से प्रकाशित होगा। इसमें की कुछ कविताओं के शीर्षक इस प्रकार है—'गेय गान', 'अकल्पनीय की कल्पना', 'दृश्य जगत' 'अन्तर्जगत' इत्यादि। इसके द्वारा जान पड़ता है कि उपाध्यायजी के वृद्धवय की भावुकता का शेष पल्लव साहित्य के नूतन पावस से धुल उठा हो; वे मानों नूतन युग का स्वागत कर रहे हों।

उपाध्यायजी के हृदय मे अपने देश, समाज तथा ब्राह्मण जाति के प्रति बहुत अनुराग है। हिन्दू-संगठन के पक्षपाती हैं। प्राचीन सस्कृति के अनुयायी होते हुए भी सामाजिक सुधारों के समर्थक है, परदा-प्रथा के बहिष्कार और अछूतोद्धार के पक्ष में हैं। 'रसकलश' में अछूतोद्धार पर आपने कविता भी लिखी

है। यही नहीं, अन्य अनेक सामाजिक विषयों पर भी आपने कविताएँ लिखी है। राष्ट्रीय वातावरण के अनुकूल भी आप कविताएँ लिखते रहते हैं। इस प्रकार न केवल आप साहित्यिक क्षेत्र में, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में भी समय से पीछे नहीं रहना चाहते। सब मिलाकर उपाध्यायजी एक उदारहृदय वात्सल्यपूर्ण वृद्ध ब्राह्मण हैं।

उपाध्यायजी ने अपने स्वाध्याय से उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इन विभिन्न भाषाओं से प्रभावित है। वर्षों तक आप आजमगढ़ में कानूनगो थे। २० वर्ष तक उस पद पर योग्यतापूर्वक काम करने के बाद सन् २३ में आपने अवकाश ग्रहण किया। तब से आप हिन्दू-विश्वविद्यालय मे हिन्दी-साहित्य के एक शिक्षक के रूप में विद्यार्थियों को विद्यादान कर रहे है। अपने सरल स्वभाव के कारण आप विद्यार्थियों के विशेष श्रद्धाभाजन हैं।

दिल्ली-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व देकर हिन्दी-संसार ने आपका यथोचित सम्मान किया है। पत्र-पत्रिकाओं मे आप 'कवि-सम्राट्' के रूप में अंकित हैं तथा कवि-सम्मेलनों के सभापतित्व की शोभा भी प्राय. आप ही बढ़ाते हैं।

इधर 'वैदेही-वनवास' नामक आपका एक दूसरा महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसे देखने से ज्ञात होता है कि उसमें आपने 'चौपदों' और 'प्रिय-प्रवास' की शैलियों का एकत्रीकरण कर

# श्यामसुन्दर दास

"मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास !
सौम्य शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास !"

आज से वर्षों पहले, स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ये पंक्तियाँ अपने स्नेहोद्‌गार के रूप में प्रकाशित की थीं। यह वह समय था, जब ठुकराई हुई गरीबिनी हिन्दी फिर से अपना गौरव प्राप्त करने के लिये स्वावलंबी बन रही थी, एवं श्री श्यामसुन्दर दास-जैसे गभीर कर्म्मठो ने उसके प्रचार और प्रसार का श्रीगणेश किया था। तब से अब तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर पहुँच चुकी है। न केवल भाषा की दृष्टि से, बल्कि साहित्य की दृष्टि से भी अब उसमे वह रंकता नहीं रह गयी है जो आज से २५-३० वर्ष पहले दिखलायी देती थी।

हिन्दी के वर्त्तमान प्रचार और उत्थान का एक प्रधान कारण है—काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा। उसने राष्ट्र के हृदय मे जिस हिन्दी-प्रेम को अंकुरित किया, उसको सींच-सींचकर पल्लवित करने का श्रेय, महात्मा गाँधी तथा अब तक के इतर साहित्यिकों को है; किन्तु हिन्दी की वर्त्तमान प्रगति की सूत्रधार सभा ही है। सभा की ही प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का

सृजन तथा 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन, ये दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य्य सम्पादित हुए। इन सभी कार्य्यों में बाबू श्यामसुन्दर दास का ही प्रमुख हाथ रहा है। एक प्रकार से नागरी-प्रचारिणी-सभा का सम्पूर्ण इतिहास ही बाबू श्यामसुन्दर दास का जीवन-चरित है। नागरी-प्रचारिणी-सभा वह प्रकाश-स्तम्भ है जिसके उजेले में अनेक साहित्यिकों को अपना मार्ग प्राप्त हुआ है। इस सभा ने अनेक प्राचीन अप्राप्य ग्रन्थों की खोज की है। विस्मृति के अंधकारपूर्ण गर्भ में विलीन होते हुए अनेक कवियों को प्रकाश मे ला खड़ा किया है। सहस्रों के व्यय से तथा वर्षों के प्रयत्न से 'हिन्दी-शब्दसागर' का निर्म्माण कराया है। इसकी प्रेरणा से लिखी गयी अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें भी हमारे साहित्य के गौरव की वस्तु हैं।

यदि कोई पूछे, वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के प्रमुख अग्रेता कौन हैं?—तो हमारे सामने सहज ही दो नाम आ जायँगे—बाबू श्यामसुन्दर दास, प० महावीर प्रसाद द्विवेदी। इनमें से द्विवेदीजी ने सिर्फ एक ही क्षेत्र में काम किया अर्थात्—हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिये 'सरस्वती' द्वारा अनेकानेक होनहार नवयुवको को प्रस्तुत करना, जिसके फल-स्वरूप द्विवेदी-युग के नवयुवक लेखक आज हमारे साहित्य के प्रौढ़-स्तम्भ माने जाते हैं। किन्तु, श्यामसुन्दर दासजी ने एक साथ ही दो काम किये—एक ओर तो नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा हिन्दी के प्रचार-कार्य्य को बहुत दूर तक अग्रसर किया, दूसरी ओर प्राचीन पुस्तकों की

खोज तथा साहित्य और भाषा-विज्ञान-संबंधी सामग्रियों को एकत्र कर साहित्य-सेवियो को साहित्यिक उपादान प्रदान किया। आचार्य्य शुक्लजी के "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" के शब्दों मे—"बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है।" साहित्यिक उपादानों की भाँति ही श्री श्यामसुन्दर दासजी ने द्विवेदीजी की 'सरस्वती' की भाँति साहित्यिक प्रोत्साहन का कार्य्य तो नहीं किया, किन्तु जिससे साहित्यिक प्रोत्साहन मिले, ऐसे साधन वे समय-समय पर अवश्य प्रस्तुत करते रहे हैं। यथा—नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रेरणा से प्रकाशित 'सरस्वती' हिन्दी-साहित्य की महान् सेवा का साधन बनी।

बाबू श्यामसुन्दर दास की दो मुख्य पुस्तकें—'भाषा-विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' हैं। ये पुस्तके अत्यन्त जटिल और गम्भीर विषय की हैं। हिन्दी मे अपने विषय की ये पहिली पुस्तके हैं और आज भी इन विषयो का साहित्य हिन्दी मे नहीं के बराबर है। इस क्षेत्र मे स्वयं सर्वप्रथम पदार्पण करने के कारण आपको स्वभावत· अंग्रेजी-साहित्य से अधिकाधिक अनिवार्य्य सहयोग लेना पड़ा है। "उन्हे भाषा को व्यापक बनाना पड़ा है, क्योकि जिन विषयो पर उन्हे लिखना था, उन विषयों का अभी तक हिन्दी-साहित्य में जन्म ही नही हुआ था। उन्हे लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था।"

इधर आपने "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास" नामक एक बृहत ग्रन्थ लिखा है। हिन्दी में इन दिनों इस विषय पर

अधिक पुस्तकें निकलने लगी हैं, परन्तु उनमें एक बात खटकती है, उनके लेखक अति आधुनिक काल के हिन्दी-साहित्य को बड़ी चलती दृष्टि से देखते हैं—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चलती ट्रेन से दर्शक अपने सामने के दृश्य-जगत को। इसका परिणाम क्या होगा ? आधुनिक काल जब उत्तरोत्तर भविष्य में प्राचीन हो जायगा तब हिन्दी के भावी अन्वेषकों को वर्तमान साहित्यिक काल का प्रामाणिक विस्तृत इतिहास प्राप्त करने में प्रायः उसी प्रकार भटकना पड़ेगा, जिस प्रकार आज हम अपने विगत युगों के विषय में कभी-कभी भ्रान्त से हो उठते हैं। वर्तमान काल के इतिहास की सबसे अधिक मिट्टीपलीद की है मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' के चतुर्थ भाग में।

इधर आचार्य शुक्लजी ने भी अपने इतिहास में वर्तमान काल के द्वितीय उत्थान तक ही विशेष दृष्टिपात किया है। हाल में जिन-जिन महाशयों ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है, उसमें अति आधुनिक काल के कई अच्छे साहित्यिकों का तो उल्लेख नहीं है, इसके विपरीत कई साधारण नामों का उल्लेख कर दिया गया है। स्पष्ट जान पड़ता है कि लेखक इस युग में रहकर भी इस युग से पूर्ण परिचित नहीं हैं। बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने भी अपने इतिहास में अति आधुनिक काल पर दृष्टिपात किया है। सन्तोष की बात है कि उसमें उनका गंभीर उत्तरदायित्व बहुत-कुछ सुरक्षित है।

उक्त प्रमुख पुस्तकों के अतिरिक्त आपने अन्य कितनी ही

महत्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन और संकलन भी किया है। आप की सम्पूर्ण कृतियों के देखने पर यह ज्ञात होता है कि आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है—शास्त्रीय और संरक्षणीय। 'भाषा-विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' आपकी शास्त्रीय प्रवृत्ति के द्योतक है, तथा सम्पादित और संकलित प्राचीन ग्रन्थ आपकी संरक्षणीय प्रकृति के।

अति गंभीर विषयों पर लिखने के कारण आपकी भाषा भी स्वभावत: गुरुगम्भीर है। यद्यपि भाषा में स्निग्धता नहीं है, तथापि उसमें परिपुष्टता है; लेखन-शैली मे भी यथाशक्ति सुबोधता है। उसमे अपने विषय को पूर्ण प्रतिपादित करने की सतर्कता दीख पड़ती है, "यही कारण है कि उनकी शैली मे हम एक ही विषय को बार-बार समझाते हुए पाते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि लिखते समय लेखक इस विषय में अधिक सचेष्ट है कि कहीं भावों की व्यंजनाशक्ति का क्रमश. ह्रास तो नहीं हो रहा है।" हाँ, विषय दुरूह होते हुए भी, उनकी भाषा और शैली उतनी दुरूह नहीं।

"इनकी रचना में साधारणत. उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आये हैं, परन्तु इन शब्दो के प्रयोग मे भी—यह तो निर्विवाद ही है कि उन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया है। इसमे यह आशय गुप्त रूप मे वर्तमान है कि इन शब्दो को अपनी भाषा मे हड़प लिया जाय। इस विषय मे उन्होंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है—"जब हम विदेशी भावो के साथ विदेशी

शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हे ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशी-पन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उन्हें स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन बनी रहेगी।" अतएव, "उन्होंने उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम मे उनका पता भी नहीं लगता । . ...इनकी संस्कृत तत्समता में अव्यावहारिक एवं समासान्त पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दाडम्बर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिन्दी भाषा के शब्द-विधान मे भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। शैली साधारणत: संगठित तथा व्यवस्थित पायी जाती है। इसके अतिरिक्त उसमे एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है।...

......परन्तु, इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक-सा नहीं मिलेगा। (इस बात का समर्थन स्वत: उन्होंने ही एक स्थान पर किया है—"जो विषय जटिल और दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" तथा "सरल और सुबोध विषयो के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।" ) जहाँ पर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का

निरूपण करना पड़ा है, ऐसे स्थानों पर उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य छोटे हुए हैं, भाषा अधिक विशुद्ध एवं कुछ क्लिष्ट हुई है।

इस समय तक हिन्दी ने इतनी प्रौढ़ और उन्नतिशील उन्नति कर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खण्डन-मण्डन एवं प्रतिपादन के लिये पर्य्याप्त सामर्थ्य है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री का सुन्दर और आकर्षक रूप भी मिलता है; उसमे भविष्य की वह महत्वाकांक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-ससार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।"*

बाबू श्यामसुन्दर दासजी की अवस्था इस समय साठ वर्ष की है। इन इतने वर्षों के साहित्यिक उत्थान का एक इतिहास आपक साथ भी सजीव रूप में सन्निहित है। न केवल कृतियों द्वारा, बल्कि समय-समय पर विविध रचनात्मक कार्य्यों द्वारा आपने हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। जिस प्रकार आप साहित्य-सेवा में अग्रसर रहे हैं, उसी प्रकार साहित्य-सेवियों के कीर्ति-प्रदर्शन में भी। वर्षों पहले "हिन्दी-कोविद-रत्न-माला" ( दो भाग ) लिखकर आपने अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया था। ना० प्र० स० द्वारा दिये गये आचार्य्य द्विवेदीजी के अभिनन्दनोत्सव मे भी आपका उत्साह था। पुरानी पुस्तकों की खोज-द्वारा प्राचीन-हिन्दी-साहित्यिकों का कीर्ति-संरक्षण भी आपका महत्कार्य्य है। अपने

* "हिन्दी की गद्य-शैली का विकास"

प्रतिष्ठित सहयोगियों द्वारा "हिन्दी-शब्द-सागर" का कई खण्डों में प्रणयन, सम्पादन और प्रकाशन आप ही के भगीरथ पुरुषार्थ का सुपरिणाम है। हर्ष है कि, नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इस उपलक्ष्य मे आपको "कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह" समर्पित कर आपका सम्मान किया। किन्तु, हमारी समझ मे आपके कार्य्य-कलाप को देखते हुए हिन्दी-जनता-द्वारा आपका इतना ही सम्मान पर्य्याप्त नहीं है, उसे अपने इस महारथी की कीर्ति का विराट् उत्सव मनाकर अपनी कृतज्ञता का पूर्ण परिचय देना चाहिये।

इधर कई वर्षों से आप हिंदू-विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग के प्रधान हैं।* इस पद पर आकर आपने तथा आपके शिष्य प्रशिष्यों ने हिन्दी-साहित्य की उच्च कोटि की शिक्षा को बहुत आगे बढ़ाया है।

आपका स्वभाव अत्यन्त गुरुगंभीर है, किंतु इस गुरुगंभीरता के भीतर भी एक प्रसन्न सहृदयता है। आप अपने समीप के व्यक्तियों को बड़ी कड़ी कसौटी पर कसते हैं, उस कसौटी पर उनकी दृष्टि में जो ठीक उतर गया, वह आपकी प्रसन्न सहृदयता का भाजन बन जाता है।

इधर कुछ समय से आप प्राय: अस्वस्थ रहते हैं। ईश्वर करे आप अधिकाधिक आयु प्राप्त कर अपनी कार्य्य-क्षमता से हिन्दी का और भी उपकार करें।

---

* इस पद से सन् ३७ में आप रिटायर हो गये।

# रामचन्द्र शुक्ल

"कविता वह हाथ उठाये हुए
चलिये कविवृन्द बुलाती वहाँ।"

"हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों मे आ बसे ; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हे हर वक्त पास न रखकर एक घेरे मे बंद रखते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिये उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते है। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है। कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवाल फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों मे जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास* पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो।"—ये है शुक्लजी के भावोद्गार, जो

---

* इसी विषय पर हिन्दी के अभिनव तरुण कवि श्री गोपालसिंह नैपाली की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

उन्होंने "विचार-वीथी" नामक अपने निबंध-संग्रह में, 'कविता क्या है' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकट किये हैं। शुक्लजी कितने भावुक तथा प्रकृति-सौन्दर्य्य के कितने अनुरागी हैं, इस बात का परिचय उक्त थोड़े-से उद्धरणों से मिल जाता है।

'काव्य में रहस्यवाद' नामक अपनी पुस्तक में भी एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"न जाने क्यों हमे मनुष्य जितना चर और अचर प्राणियों के बीच में अच्छा लगता है, उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मन्दाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं, उतने अयोध्या की राजसभा मे नहीं। अपनी-अपनी रुचि है। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना है कि भाव-साहित्य में मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिये। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं, जिसमे मनुष्यो की वृत्ति के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते-बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो, घटनाओं के साथ किसी चिर-परिचित पेड़-झाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।"

यह घास नहीं है, पनप उठी मेरे जीवन की मधुर आस।
मैं तो रहता हूँ महलों में, पर प्राण यहीं करते निवास॥
बस गया यहाँ तो गलती से उस प्रभु का सुंदर सुखद स्वर्ग।
क्या समझ लगा दी थी उसने मेरे आँगन में हरी घास॥

इसके अतिरिक्त, आप काव्य मे केवल सुकुमार भाव से ही सन्तुष्ट नहीं है, बल्कि आपकी दृष्टि से—

"जीवन का सौन्दर्य्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमे एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य्य आदि हैं; दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि। एक ओर आलिगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-शांति आदि हैं, दूसरी ओर गर्जन, तर्जन, तिरस्कार और ध्वस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक ( Dynamic ) सौन्दर्य्य का पूर्ण प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनो पक्षों मे साध्य-साधक-सम्बन्ध रहता है, जहाँ इनमे सामञ्जस्य दिखायी पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचण्डता मे भी सौन्दर्य्य का प्रदर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नही कि यह सौन्दर्य्य भी मगल का ही पर्य्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय ( Static ) सौदर्य्य के अलौकिक स्वप्न मे ही कविता समझते है, वे कविता को जीवन-क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।"

इन विचारों में शुक्लजी की काव्यरुचि का थोड़ा-बहुत आभास मिल जाता है।

शुक्लजी ने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। आपकी कविताएँ ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो ही मे हैं। ब्रजभाषा मे "आप प्राचीन काल की प्रचलित पदावली के प्रयोग के पक्षपाती नही हैं, अत. आपकी भाषा ब्रजभूमि मे आजकल प्रचलित ब्रजभाषा से

मिलती है। दोनों मे भेद इतना ही है, जितना साहित्यिक तथा लोगों द्वारा व्यवहार में प्रयुक्त भाषा मे होना स्वाभाविक है।"

प्रकृति से प्रेम होने के कारण आपकी कविताएँ प्रकृति-सौंदर्य्य-प्रधान हैं और आपके उपरोक्त विचार के अनुसार ही वे केवल प्रकृति के कोमल रूप में ही नहीं, वल्कि उसके समस्त रूप मे सौन्दर्य्य देखती हैं। अपने "कविता क्या है"—शीर्षक निबन्ध में आपने प्रकृति के इस समस्त रूप पर लिखा है—

"वन-पर्वत-नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूल, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ( मनुष्य के ) ऐसे ही चिर-सहचर-रूप है। खेती, दुर्री, हल, झोपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं है।"

और, प्राय: यही सब वातें उनकी प्रकृति-सम्वन्धी कविताओ के प्रिय उपादान हैं। उनकी ऐसी कविताओ मे ग्राम्य प्रान्त की ठेठ प्रकृति का ठेठ रूप प्रचुरता से दीख पड़ता है। अवश्य ही उनकी इस प्रकार कि कविताओं में प्रकृति के 'वर्णन' की अपेक्षा प्रायः 'विवरण' ही रहता है।

आपकी प्रकृति-सम्वन्धी कविता की कुछ पंक्तियाँ सामने है—

भूरी हरी घास आस-पास, फूली सरसों है,

पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार।

कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे,

एक रंग मिला चला गया पीत-पारावार॥

गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मंडल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार॥

इन उद्धृत पंक्तियों की भाषा कितनी गठीली और साफ-सुथरी है। इसमे शुक्लजी की लेखनी की वह जटिलता नही है जो प्राय: लोगों को उनके गद्य मे दीख पड़ती है। जान पड़ता है मानो उनका गद्य इस पद्य मे आकर छन गया हो। खड़ी बोली में शुक्लजी की यह भाषा, गुप्तजी, हरिऔधजी, गोपालशरणसिंहजी की भाषा की भाँति ही अपनी एक खास विशेषता रखती है।

हाँ, शुक्लजी के प्राकृतिक विवरणो को हम चित्र की अपेक्षा निर्देशात्मक नक्शा ही कह सकते है, जिसमे केवल गहरी स्याही से चिह्नित कुछ ऐसी घनी रेखाएँ हैं, जिनके द्वारा हमे वस्तु-परिज्ञान प्राप्त होता है। यह ठीक है कि "प्रकृति के चित्रणों में आप अपनी ओर से कुछ मिलाते नहीं हैं, न प्रकृति के ऊपर अपनी भावनाओं का आरोप ही करते हैं, न सजाने का प्रयत्न ही करते हैं।" हाँ, उनके प्रकृति-चित्र को हम प्राय: 'ड्राइंग' कह सकते हैं, 'पेंटिंग' नहीं। शुक्लजी की प्रकृति-कविताओं में जितना भौगोलिक भाव-पक्ष है, उतना कला-पक्ष नहीं।

"हृदय का मधुर भार" शीर्षक एक बड़ी कविता शुक्लजी के बाल्य-संस्मरणों की सुन्दर कृति है, उसमे आपने ग्राम्य-जीवन की अत्यन्त स्वाभाविक झलक दिखायी है। साथ ही कहीं व्यंग, कहीं

मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न-रूप भी दिखाया गया है।

ग्राम्य प्रकृति की भाँति ही ग्राम्य जीवन के प्रति भी शुक्लजी का अनुराग स्वाभाविक ही है। यथा—

देख देव-मन्दिर पुराना एक बैठे हम
वाटिका की ओर, जहाँ छाया कुछ आती है।
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है॥
क्यारियाँ कहीं हैं, लुप्त पथ में उगे हैं झाड़,
बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है।
नर ने जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है॥

इस भाँति वे मानव-प्रभाव से रहित प्रकृति के ठेठ रूप के उपासक हैं। और, प्रकृति-द्वारा ही कृत्रिम मानव-जीवन को प्रभावित और परिष्कृत करना चाहते हैं। क्या कुछ-कुछ 'वर्ड-स्वर्थ' की तरह ?

शुक्लजी ने ब्रजभाषा मे अँगरेजी के 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर 'बुद्ध-चरित' नामक एक प्रबंध-काव्य लिखा है। उसमें भी आपके प्रकृति-पर्यवेक्षण के उदाहरण-स्वरूप अनेक मनोरम स्थल हैं। इस अनुवादित काव्य में शुक्लजी ने विविध छंदों का उपयोग किया है; किंतु हमें ऐसा जान पड़ता है कि शुक्लजी के कवित्त और सवैय्यों में जो रस-प्रवाह है, वह अन्य

छंदो मे नहीं। उनके प्रयुक्त छोटे छदो मे उनका गंभीर प्रौढ़-पद विन्यास भारी पड़ जाता है, वे उनके भार को मानो वहन नहीं कर पाते।

प्राय: अनुवादित होने के कारण 'बुद्ध-चरित' के प्रकृति चित्रण में शुक्लजी की लेखनी अपनी ही शैली पर नहीं चली है बल्कि उन्हे मूल—लेखक की तूलिका के रूप-रंग भी ग्रहण करने पड़े हैं। साथ ही खड़ी बोली की अपेक्षा व्रजभाषा मे प्रकृति की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमे माधुर्य्य भी अधिक आ गया है। यथा—

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी,
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी।
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई,
सीकन में गुछि झूलि रहीं जो मद झकोरन पाई।
चुवत मधूक परसि भू जौलों 'टप-टप' शब्द सुनावैं;
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावैं।
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी, कतहुँ-कतहुँ पुरमाहीं।
रामजन्म-उत्सव के अबलौं साज हटे हैं नाहीं।

इस प्रकार की भाषा और छद मे, शुक्लजी ने अपनी जो कविताएँ लिखी हैं, वे उनकी खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा अधिक रस-स्निग्ध है।

उल्लिखित काव्य-कृतियो के अतिरिक्त आपने 'बसंत-पथिक' और 'शिशिर-पथिक' शीर्षक कविताएँ भी लिखी है। कुछ

कविताएँ आपकी उपदेशात्मक भी हैं; परन्तु आपने पद्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक लिखा है। गद्य के क्षेत्र में आप हिन्दी-साहित्य के तीन महारथियों ( दास, द्विवेदी, शुक्ल ) मे से है।

हमारे साहित्य में शुक्लजी की परम प्रतिष्ठा उनके आलोचनात्मक ग्रन्थो और निवन्धों के ही कारण है। जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी हुई उनकी गंभीर समीक्षाएँ उच्च कोटि के पाठकों के अध्ययन और मनन की वस्तु हैं। इसीलिये, आप इस विपय के 'आचार्य्य' माने जाते हैं। 'काव्य मे रहस्यवाद' तथा 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' नामक ये दो ग्रन्थ भी आपके गभीर अध्ययन और विवेचन-शक्ति के द्योतक है। इसके अतिरिक्त, आपके मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निवन्धों का एक उत्कृष्ट सग्रह 'विचार-वीथी' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमे यदि एक ओर क्रोध, घृणा, श्रद्धा आदि मनोविकारों पर विश्लेषणात्मक निवन्ध हैं, तो दूसरी ओर 'कविता', 'उपन्यास' जैसे साहित्यिक विषयों पर भी।

आप लेखक ही नही, एक अच्छे अनुवादक भी हैं। आपने 'विश्व प्रपञ्च', 'कल्पना का आनन्द', 'मेगास्थनीज का भारत-वर्षीय विवरण', 'राज्य-प्रवन्ध-शिक्षा' इत्यादि ग्रथों का अंग्रेजी से तथा 'शशांक' नामक उपन्यास का बँगला से अनुवाद किया है।

स्वय कवि होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि शुक्लजी ने आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी-काव्यो को ही अपना प्रमुख विषय चुना। वे एक अध्यापक है; इसलिये अध्यापक-पद से उनके

आलोचक-रूप का अधिक से अधिक दर्शन मिलना उचित ही है। यदि हम कहना चाहें तो यो कह सकते है कि उनका हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है, तथा जीवन एक अध्यापक। परन्तु, उनका आलोचक-रूप ही इतना प्रवल है कि उनकी कविताओ में भी हमे यत्र-तत्र उसीका परिचय मिलता है। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्भरयुक्त भूधर कह सकते हैं, जिसमे एक ओर मस्तिष्क की गभीरगुरुता है, तो दूसरी ओर हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता!

शुक्लजी के चित्र को यदि देखें, तो उनके 'पर्सनल' व्यक्तित्व के साथ ही साहित्यिक व्यक्तित्व को हम बहुत स्पष्टता से हृदयंगम कर लेंगे। उसमें हमे पाश्चात्य वेश मे एक भारतीय कलेवर दीख पड़ेगा। इसी प्रकार उनकी आलोचना-पद्धति तो अंग्रेजी ढंग की है; किन्तु उसका आधार हमारे ही यहाँ का शास्त्रीय विधान है। काव्यालोचन के क्षेत्र मे उनके दृष्टिकोण का परिचय 'काव्य मे रहस्यवाद' शीर्षक पुस्तक से मिलता है। उसमे एक ओर यदि आपने अँगरेज आलोचक रिचर्ड्स के विचारो में अवगाहन किया है, तो दूसरी ओर बंगाल के स्वर्गीय साहित्यकार डी० एल० राय की उन समीक्षाओ का समर्थन किया है, जो उन्होंने किसी समय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-शैली के विरोध मे लिखी थी। राय महोदय की समीक्षाएँ तो हमारे सामने नहीं, किन्तु हम दिन के प्रकाश मे आज भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि रवीन्द्रनाथ अपनी ही काव्य-शैली से प्रस्फुटित होकर विश्ववन्द्य हो गये है।

साहित्य के क्षेत्र मे रिचर्ड्स और डी० एल० राय, यदि इन दोनों के विचार-कोण को एक में सम्मिलित कर दें और इस प्रकार एक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य के सम्मिलन से जो स्वरूप हमारे सामने मूर्त्त होगा, उसीमें शुक्लजी का आलोचक-रूप है। रिचर्ड्स के आदर्श पर यदि एक ओर हिन्दी को शुक्लजी के पाश्चात्य पाण्डित्य का परिचय मिलता है, जो दूसरी ओर डी० एल० राय की मनोवृत्ति का भी जो साहित्य-क्षेत्र में नूतन प्रगति के भविष्य की ओर न देखकर उसके वर्तमान से निराश हो जाते है। वे साहित्य मे नवीनता चाहते हुए भी उसे प्राचीनता के निश्चित गज से ही नापकर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। इसलिये, आपने 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक पुस्तक मे स्थल-स्थल पर रहस्यवाद की अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना, वक्रोक्ति, प्रतीक, लक्षणा इत्यादि की सीमाओ मे आँकने का पाण्डित्यपूर्ण प्रचुर उद्योग किया है।

जिस प्रकार डी० एल० राय ने किसी युग में रवीन्द्रनाथ की नव-विकासोन्मुख काव्य-शैली पर असन्तोष प्रकट किया था, उसी प्रकार वर्तमान युग में शुक्लजी भी नवीन हिन्दी-कविता की प्रगति के प्रति सन्तुष्ट नहीं। इस प्रगति मे आपको अंग्रेजी, बँगला और उर्दू की नकल ही दिखायी पड़ती है। इस सम्बन्ध में आप अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे लिखते हैं—

"द्विवेदीजी के प्रभाव से जिस प्रकार के गद्यवत् और इति-वृत्तात्मक ( Matter of Fact ) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लग

रहा था, उसके विरुद्ध प्रतिवर्त्तन (Reaction) होना अवश्यंभावी था। इस तृतीय उत्थान के पहले ही उसके लक्षण दिखायी पड़ने लगे। कुछ लोग खड़ी बोली की कविता मे कोमल पद-विन्यास तथा कुछ अनूठी लाक्षणिकता और मूर्त्तिमत्ता के लिये आकुल होने लगे। इसके अतिरिक्त जिस दवी हुई और अशक्त भाषा मे भावों की व्यजना होने लगी थी, उससे भी संतोप नही था। कल्पना की ऊँची उड़ान, भाव की वेगवती अनर्गल व्यंजना (?) और वेदना के अधिक विवृत स्वरूप की आकांक्षा भी बढ़ने लगी। पर, साथ ही बिलकुल पुराने ढंग की ओर पलटना भी लोग नहीं चाहते थे, जिसमें परंपरागत (Conventional) वाच्य उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता हो गयी थी। वे मूर्त्तिमत्ता अवश्य चाहते थे, पर वाच्य अलकारों के रूप मे नहीं, लक्षणा के रूप में, जैसी कि अंग्रेजी की कविताओ मे रहती है। इसी प्रकार तथ्यों के सादृश्य विधान के लिये भी परिष्कृत रुचि के अनुसार 'दृष्टांत' आदि का स्थूल विधान वांछित न था; अन्योक्ति-पद्धति ही समीचीन समझ पड़ती थी।

उन सब आकांक्षाओ को चटपट पूर्ति के लिये कुछ लोगो ने इधर-उधर आँखे दौड़ायीं। कोमल पद-विन्यास के लिये तो बँगला काफी दिखायी पड़ी। साथ ही रवीन्द्रबाबू के रहस्यवाद की रचनाएँ भी सामने आ रही थीं जिनमे अन्योक्ति-पद्धति पर बहुत ही मार्मिक मूर्त्तिमत्ता थी। रही अनूठी लाक्षणिकता, वह अँगरेजी साहित्य मे लबालब भरी दिखायी पड़ी। वेदना की विवृत्ति के

लिये उर्दू-साहित्य बहुत दूर नहीं था। फल यह हुआ कि जो जिधर दौड़ा, वह उधर ही।"

शुक्लजी की इस कथन-शैली में उनकी लेखनी की वह गंभीरता नही, जो उनके प्रौढ़ वय की विशेषता है।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता मे जो परिवर्त्तन हुआ है, उसे 'नकल' कहना साहित्य के विकासशील प्रकृति की उपेक्षा करना है। आज के युग मे एक देश का दूसरे देश के साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो गया है, उसके कारण यह अनिवार्य्य है कि न केवल समाज और राजनीति पर ही एक का दूसरे पर प्रभाव पड़े, वल्कि साहित्यिक भाव-प्रभाव भी स्वाभाविक हो गया है। अतएव, जिस प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे हम पूर्ण रूप से 'भारतीय' रहते हुए भी, विश्व की प्रगति से वचित नहीं रहना चाहते एव एकमात्र किसी समय की बँधी रूढ़ियों को ही 'भारतीयता' कहकर तृप्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी। शुक्लजी जिसे 'नकल' कहते हैं, वह नकल नहीं, वह तो एक सुन्दर साहित्यिक सहयोग है। यह साहित्यिक सहयोग यदि पश्चिम ने 'कालिदास' और 'उमर खैय्याम' के रूप में पूरब से ग्रहण किया है, तो पूरब ने भी पश्चिम से स्वभावत. कुछ लिया है। यह तो एक देश के साहित्य-समीर का दूसरे देश में परस्पर-सन्तरण है, हम उसे वॉध नही सकते।

प्रस्तुत नवीन हिन्दी-कविता ने अन्य साहित्यो से जो कुछ लिया है, वह 'अनुकरण' नही 'ग्रहण' है। यह ग्रहण उसने

अपनी ही भावुकता के सम्बल से किया है। हम एकमात्र नकल या अनुकरण तब मान लेते जब हमारी भावुकता मे अपनी प्रतिभा न होती। खड़ी बोली के पिछले खेवे को देखते हुए क्या हम सचमुच कह सकते है कि हमारे वर्त्तमान युग के प्रवर्त्तक कवियों में प्रतिभा का अभाव है!

अभी तो बीसवी शताब्दी का अर्द्धांश भी पूर्ण नहीं हुआ, केवल २०-२५ वर्ष के अल्प काल मे ही वर्त्तमान खड़ी बोली की कविता ने जो उन्नति की है, वह हमारे हर्ष का ही कारण होना चाहिये। अपने पथ-सन्धान के लिये तो उसके सामने अभी बहुत बड़ा भविष्य पड़ा हुआ है, जब कि अकेले ब्रजभाषा ने ही अपनी उन्नति के लिये तीन-चार सौ वर्ष खींच लिये!

यह ठीक है कि कुछ उत्तरदायित्त्व-शून्य कलम-धारी, कवि बनने के शौक मे बे-सिर-पैर की, शब्दाडम्बरपूर्ण लाइनें लिख-लिखकर, 'छायावाद' को बदनाम कर रहे है, और इस प्रकार 'छायावाद' ने बहुतो के लिये कवि बनना सुलभ कर दिया है। किन्तु, मै सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दो मे निवेदन करूँ कि "प्रत्येक साहित्य मे उसके परिवर्त्तन के आगे भी अव्यवस्था रहती है और पीछे भी। हमारा काव्य भी इसका अपवाद नहीं। अचानक चिर-परिचित नियमो के अन्तर्द्धान हो जाने से तथा नवीन काव्य-संगीत के वास्तविक रूप को हृदयंगम न कर सकने के कारण हमने कलाओं मे श्रेष्ठ काव्य-कला को कौतुकमात्र समझ रक्खा है, फलत: अनेक नवीन रचनाओं मे गहराई नहीं मिलती।"

और, इसके साथ ही मैं इतना और भी कह दूँ कि घास-फूस की भाँति बढ़ती हुई इन कविताओं से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। वे चाहे कूड़ा-कर्कट की ही कोटि की क्यों न हों, उनकी भी एक उपयोगिता है और वह यह कि वे नवीन साहित्य को उर्व्वर बनाने में 'खाद' का काम कर जायँगी।

'काव्य में रहस्यवाद' में शुक्लजी एक स्थान पर लिखते हैं—"किसी 'वाद' के ध्यान से, साम्प्रदायिक सिद्धान्त के ध्यान से, जो कविता रची जायगी, उसमें बहुत-कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान में कभी-कभी क्या, प्राय. रस-संचार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।"

यहाँ पर शुक्लजी को यह जानकर सन्तोष होना चाहिये कि नवीन हिन्दी-कविता के प्रवर्त्तक कवि काव्य में किसी 'वाद' को लेकर नहीं चले हैं। यदि उनसे पूछा जाय तो वे बेचारे शायद स्वयं नहीं बतला सकेंगे कि उनकी कविता किस 'वाद' के अन्तर्गत है। छायावाद साम्प्रदायिक नहीं है। साहित्य में प्रतिवर्त्तन होने पर स्वभावतः कवि-हृदय परिवर्त्तन-क्रम से जिस भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि पर नवीन हिन्दी-कवि और उनकी कविता है। उनका और उनकी कविता का विकास प्राचीन हिन्दी-कविता के भीतर से ही हुआ है। हाँ, इस विकास-क्रम में उसे विकसित रूप-रंगों से वेष्टित किया गया है; इसीलिये अपनी पिछली पीढ़ी की अपेक्षा वह भिन्न-सी लगती है। अजन्ता की कला के सम्मुख ठाकुर-शैली के चित्रों का जो 'निजस्व' है, वही प्राचीन हिन्दी-

कविता के सम्मुख नवीन हिन्दी-कविता का। और, जिस प्रकार किसी आनेवाले युग मे वर्त्तमान चित्रकला के वाद किसी अन्य शैली के नव-विकास का होना भी सम्भव है, उसी प्रकार खड़ी बोली की कविता मे भी पुनः-पुनः परिवर्तन निश्चित है। यह परिवर्तन जहाँ साहित्य की प्रगतिशीलता को सूचित करता है, वहाँ इस बात को भी कि साहित्य, युग-युगान्तर तक नित नये-नये हृदयो के भावो और विचारों से अपने अक्षय भण्डार को भरता रहता है, ताकि उसमे एक ही तरह की वस्तुएँ बहुत न हो जायँ और उसके भण्डार से प्रत्येक युग की विशेषता के लिये चिर-आकर्षण बना रहे।

'काव्य मे रहस्यवाद' में शुक्लजी लिखते हैं—

"रहस्यवाद या छायावाद काव्य-वस्तु ( Matter ) से सबंध रखता है और 'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध विधान-विधि ( Form ) से होता है।"

इसी प्रसंग मे एक दूसरे स्थान पर शुक्लजी लिखते हैं— "छायावाद या रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्ही रचनाओ को समझना चाहिये जिनकी काव्य-वस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो।"

परन्तु, यह छायावाद और रहस्यवाद है क्या? हमारी समझ मे वस्तुतः दोनों एक चीज नहीं हैं—द्विवेदी-युग में शुक्लजी जिस Matter of Fact का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसीकी दूसरी दिशा में छायावाद है, जो वस्तुओ की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवनस्पर्शिता को ग्रहण करता है।

इतिवृत्तात्मकता बहुत-कुछ विज्ञान के समीप रहती है और जीवन-स्पर्शिता या छायावाद, भाव के समीप । Matter of Fact का सम्बन्ध यदि स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म आत्मा से । इतिवृत्तात्मक दृष्टि का लेखक एक पुष्प के सर्वाङ्ग का वर्णन करेगा ; किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस पुष्प के भीतर से उस प्राणमय जीवन को अपनायेगा जो उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है ।

जिस प्रकार Matter of Fact के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज रहस्यवाद है । छायावाद मे यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद मे आत्मा का परमात्मा के साथ । एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे मे अलौकिक । एक पुष्प को देखकर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है; परन्तु जब उसी पुष्प में हम एक किसी परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है । अस्तु ।

शुक्लजी हमारे साहित्य-क्षेत्र के एक वैज्ञानिक व्यक्ति हैं, अतएव, उनकी साहित्यिक समीक्षाएँ वैज्ञानिको की तरह ही प्राय: घोर विश्लेपणात्मक, साथ ही अत्यन्त जटिल होती है । इस अति-वैज्ञानिक-विश्लेषण के कारण ही उनकी भापा और शैली में मनोहरता कम तथा गद्यमय वास्तविकता अधिक है, जो बुद्धि के

लिये ज्ञान की गम्भीरता प्रदान करते हुए भी हृदय को रसात्मकता से वंचित कर देती है।

उनके आलोच्य विषयों की प्रतिपादन-शैली, रेखागणित की-सी सयुक्तिक और दुरूह है। रेखागणित मे जिस प्रकार एक लघु विन्दु को भी लेकर उसका दीर्घ प्रसार होता है, उसी प्रकार एक छोटी-सी बात को भी उसका विश्लेपण करते-करते शुक्लजी अपनी विचार-रेखाओं द्वारा बड़ी दूर तक ले जाते है। और, जब तक उनके विचारों की भी कोई सहज व्याख्या न कर दे, वे गहन ही बने रहते हैं।

अपनी कृतियों के बीच-बीच मे उन्हे अपने अभिप्राय को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्पष्ट करने के लिये प्राय: अँगरेजी शब्दों का भी निर्देश करना पड़ता है। जो लोग अग्रेजी से परिचित हैं, उन्हे उन शब्दों का अभिप्राय ग्रहण करने मे कोई विशेष असुविधा नहीं होती ; किन्तु हिन्दी-पाठकों को वे स्थानापन्न हिन्दी-शब्द सहज गम्य नहीं ; कारण वे पारिभाषिक-से होते है। अतएव, वे शब्द भी 'अमरकोष' के सूत्र की भाँति ही अपनी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार शुक्लजी के विचार भी प्राय: व्याख्येय होते है और शब्द भी।

आपकी भाषा-सम्बन्धी गहनता साहित्यिक निबन्धों मे ही अधिक दीख पड़ती है ; किन्तु क्रोध, लोभ इत्यादि मनोवृत्त्यात्मक विषयों मे उनकी भाषा उतनी गहन नहीं। इसका कारण यही हो सकता है कि आपकी लेखनी कहीं विश्लेषणात्मक

रहती है तो कहीं व्याख्यात्मक। व्याख्यात्मक-शैली में स्वभावतः अपनी बात को केवल सूत्र-रूप मे ही न कहकर प्रायः उसे समझाना भी पड़ता है।

यद्यपि आपकी भाषा संस्कृतप्राय है, किन्तु यथाप्रसग आप थोड़ा-बहुत उर्दू के चलते शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। आपकी भाषा मे उर्दू शब्दो का प्रयोग तत्सम रूप में हुआ है। "बाबू श्यामसुन्दर दासजी की भॉति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता।"

अपने गहन निबन्धों मे कहीं-कहीं शुक्लजी, मानो अपने विषय से स्वयं थककर, बीच-बीच मे व्यंग्यात्मक हास्य का भी पुट दे देते हैं। गहन आलोच्य प्रसंगों के बीच में यत्र-तत्र उनके हास्य की मधुर कलियाँ उसी प्रकार खिल पड़ती है, जिस प्रकार सन्ध्या के मौन गंभीर आकाश मे विरल तारिकाएँ। उनकी कुछ झलक इन पंक्तियों मे देखी जा सकती है—

१—हवा से खेलनेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं, तो कम से कम सुनी तो बहुतो ने होगी, चाहे उनकी जिन्द दिली की कद्र न हो।

२—एक कविजी ने कहा है—

"काजर दे नहिं, एरि सुहागिनी!
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।"

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिये।

३—बिहारी की नायिका जब साँस लेती है, तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की-सी दशा उसकी रहती है।

इस प्रकार की व्यंग्य हास्यपूर्ण पंक्तियाँ शुक्लजी की कृतियों में पान्थशाला का काम करती हैं, जहाँ उनके पाठकों को कुछ क्षण विश्राम मिलता है।

"शुक्लजी के पूर्व वास्तव मे आलोचनात्मक प्रबन्ध बहुत कम लिखे गये थे। यदि लिखे भी गये थे, तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। *वास्तव मे साहित्यालोचन की विश्लेषणात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने ही आरम्भ की है। आरम्भ करने मे उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा की उद्भावना मे।

......जिस प्रकार शुक्लजी ने अन्य विभागों मे अपनी उद्‌भावना-शक्ति का परिचय दिया है, उसी प्रकार शब्द-निर्म्माण के संसार में भी वे प्रमुख बने हैं। शुक्लजी ने अनेक शब्दों का निर्म्माण भी किया है, और साथ ही अनेक शब्दो का पुनरुद्धार भी। 'विश्व-प्रपञ्च' की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है, जिनमें बहुत-से नवीन निर्मित शब्दो के अतिरिक्त

---

* द्विवेदीजी के समय में गंभीर और मननशील आलोचनात्मक साहित्य की जो कमी थी, निस्सन्देह उसकी पूर्ति आदरणीय शुक्लजी ने ही की है।—ले०

अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शब्दों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्म्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली-विशेष का स्वतत्र रूप खड़ा करना पड़ा है।" †

शुक्लजी की गहन-शैली का अनुसरण सबके लिये सहज नहीं; अतएव आपकी शैली को आदर्श मानकर उसका अनुसरण करने का प्रयत्न कालेज से निकलते हुए हिन्दी के प्रायः वे ही विद्यार्थी करते हैं, जो अपने छात्र-जीवन में शुक्लजी की कृतियों के समीप रह चुके हैं।

शुक्लजी मिर्जापुर के निवासी है, वहीं संवत् १९४१ में आपका जन्म हुआ। अपने प्राथमिक दिनों में आप भारतेन्दु-कालीन साहित्यिक स्व० पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' के सम्पर्क मे रह चुके हैं। आपके प्रारभिक लेख, 'प्रेमधन' जी-द्वारा सम्पादित 'आनन्द-कादम्बिनी' मे प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं लेखों में आपकी वर्त्तमान विकसित-शैली का मूल है। आप उर्दू, अग्रेजी इत्यादि साहित्यों का परिचय रखते हुए भी हिन्दी की स्वतन्त्र भावाभिव्यंजन-शक्ति के पक्षपाती है।

सन् १९०१ मे आपने मिर्जापुर से ही इन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। इसके बाद आपने वकालत पास करने की चेष्टा की थी, किन्तु कानूनी वकील की अपेक्षा आपको ईश्वर ने एक साहित्यिक

---

† 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास'

वकील बनाया। आलोचक का काम भी तो एक वकील के काम की ही भाँति गुरुतर होता है।

कुछ दिनों तक मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापक रहने के बाद आप नागरी-प्रचारिणी-सभा-द्वारा प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादकीय विभाग में काशी बुलाये गये। 'हिन्दी-शब्दसागर' के वर्त्तमान रूप का अधिकांश श्रेय शुक्लजी को ही है। प्रधान सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने शब्द-सागर की भूमिका में इस बात का निर्देश किया है।

इधर कई वर्षों से शुक्लजी हिन्दू-विश्वविद्यालय मे हिन्दी के एक प्रमुख एवं परम सम्मान्य अध्यापक हैं।*

आपके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) ने आपको अपने ५००) के पुरस्कार से सम्मानित किया है। सन् ३६ मे 'चिंतामणि' नामक निबन्ध-पुस्तक पर आपको मंगला-प्रसाद-पारितोषिक भी मिला है।

# प्रेमचन्द

सन् १८६६ की बात है। बनारस मे एक गरीब बालक मैट्रिक्युलेशन पास कर, आगे पढ़ने के लिये खर्च जुटाने की चिन्ता मे डूबा हुआ सड़क पर धीरे-धीरे चला जा रहा था। जाड़ों के दिन थे। उसके पास एक कौड़ी भी न थी, वह दो दीनों से बहुत भूखा था। पेट की ज्वाला से व्याकुल होकर वह एक बुक्सेलर की दूकान पर एक किताब बेचने जा रहा था। उसके हाथ मे चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी, जिसे उसने बड़ी हिफाजत से अपने पास रख छोड़ा था। वह चारों ओर से निराश होकर, उस दो रुपये की पुस्तक को एक रुपये मे बुक्सेलर के हाथ बेच आया। उस समय उसके मुख पर ऐसी दीनता और वेबसी थी कि देखनेवाले को दया आ जाती।

जब वह किताब बेचकर फिर सड़क पर चलने को मुड़ा, उसी समय एक भलेमानस का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने उससे पूछा—"नोकरी करने की इच्छा है?" उसने अत्यन्त नम्र होकर उत्तर दिया—"है।" उन भलेमानस ने उसे एक छोटे-से स्कूल मे १८) मासिक पर सहायक मास्टर का काम दे दिया।

ऐसी ही गरीबी में दिन बिताते और स्कूलों की नौकरी करते हुए उस दीन बालक ने बी० ए० पास कर लिया। किन्तु, नौकरी करना और पेट भरना ही उसके जीवन का उद्देश्य नहीं था। परमात्मा को तो उसके हाथों कुछ और ही काम कराना मंजूर था। निदान, वही बालक आगे चलकर साहित्य-शिल्पी हुआ। आज भी वह अपनी उज्ज्वल कीर्ति से हमारे हिन्दी-साहित्य में आलोकित है।

क्या मै बतला दूँ, वह कौन है? वे हैं बीसो कहानियों और उपन्यासों के यशस्वी लेखक श्री प्रेमचन्द।

प्रेमचन्दजी हमारे साहित्य के बहुत बड़े उपन्यासकार और कहानी-लेखक माने जाते हैं। उनकी कृतियाँ हिन्दी ही मे नहीं, बल्कि उर्दू, गुजराती, मराठी, जापानी और कुछ अंशो में अंग्रेजी में भी पढ़ी जाती हैं। इन सभी भाषाओं मे उनकी कृतियों के अनुवाद हो गये हैं और हो रहे है। वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य मे इतना अधिक यश और गौरव अभी तक किसी को नहीं मिला।

पहले ये उर्दू मे कहानियाँ लिखा करते थे, और अब भी ये अधिकतर उर्दू में ही लिखा करते हैं। उर्दू में ये सन् १६०१ ई० से कहानियाँ और सन् १६०७ से उपन्यास लिखने लगे थे। और उन्हीं उर्दू की कृतियों का हिन्दी-रूप लेकर ये सन् १६१५ मे हमारे साहित्य मे आये।

हिन्दी मे प्रेमचन्दजी से भी पहले, किस्से-कहानियाँ और

कथाएँ लिखी जा चुकी हैं; किन्तु वे कथाएँ और कहानियाँ साहित्यिक ढंग की न होकर, केवल जन साधारण की रुचि के साँचे में ढली हुई, पुराने ढंग की हिन्दी में लिखी गयी थीं। परन्तु, प्रेमचन्दजी ने कथा और कहानियों को साहित्यिक रूप दिया; भाषा और वर्णन-शैली मे कुछ-कुछ कला का पुट दिया। इन्होंने अपनी कहानियों-द्वारा जन-साधारण की रुचि को उन्नत कर दिया। यही नहीं, केवल किस्सेनुमा कहानियाँ लिखने की अपेक्षा, हमारे दिन-रात के जीवन-संग्राम की गाथाएँ, सामाजिक और राजनैतिक उपन्यासों तथा कहानियों के रूप में हिन्दी को भेंट दीं।

प्रारम्भ में जब प्रेमचन्दजी उर्दू से हिन्दी में आये, उस समय उनकी भाषा ऐसी जान पड़ती थी मानो कोई पथिक अनजान प्रदेश में अपना पथ-सन्धान कर रहा हो। उसमें हिन्दी-व्याकरण की साधारण भूलों की भी भरमार थी। किन्तु, उर्दू में लिखते-लिखते मुहावरों पर हाथ बैठ जाने के कारण हिन्दी मे भी उन्होंने प्रारम्भ से ही अपनी उसी मुहावरेदार भाषा का उपयोग किया, जिसके कारण आप उर्दू मे सम्मानित हो चुके थे। इसीसे हिन्दी भाषा-सम्बन्धी आपकी प्रारंभिक त्रुटियाँ भी विशेष विरूप नहीं जान पड़ीं। उस समय की भाषा और भावना, दोनों में ही 'नये हाथ' का स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु, हिन्दी में लिखने के अटूट उत्साह ने धीरे-धीरे उनकी भाषा को परिमार्जित और प्रौढ़ कर दिया। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा-सदन' उसी परिमार्जन और प्रौढ़ता का एक श्रीगणेश-मात्र है। परन्तु, उनकी भाषा में

आज भी हिन्दी की आत्मा के अनुरूप पूर्ण साहित्यिकता आ गयी हो, सो बात नहीं। उनका प्रारंभिक संस्कार उन्हें बराबर उर्दू के शब्दों और उसीके वाक्य-प्रवाह को माध्यम बनाकर हिन्दी में लिखने को प्रेरित करता है।

उनकी भाषा बहुत चलती हुई है। उसमे उर्दू की लोच और रवानगी है। दूसरे शब्दो मे हिन्दी के कलेवर को उन्होंने उर्दू की साहित्यिकता से ही मण्डित कर दिया है; मानो आर्य्य-संस्कृति में मुस्लिम संस्कृति का मिश्रण हो गया हो।

आम विषयो के लिये उर्दू की बनी-बनाई चलती भाषा जन-साधारण के लिये बहुत लोकप्रिय हो गयी है; इसी कारण प्रेमचन्दजी के उपन्यास और कहानियाँ सर्वसाधारण के बहुत निकट पहुँच सकी हैं। यदि हम कहना चाहे, तो कह सकते हैं कि स्व० देवकीनन्दन खत्री ने अपने 'चन्द्रकान्ता' इत्यादि उपन्यासो में जिस सीधी-सादी उर्दूनुमा चलती भाषा का उपयोग किया है, उसीका एक परिमार्जित साहित्यिक रूप प्रेमचन्दजी की भाषा और शैली में देखा जा सकता है। कथानकों मे केवल चुहचुहाती कहानी न देकर उसे ऊँचे स्टैन्डर्ड पर उठा देने के कारण उनकी कथा-कृतियो मे खत्रीजी के उपन्यासों से अधिक जीवन है। इस दृष्टि से प्रेमचन्दजी, खत्रीजी से भी आगे, हिन्दी के प्रथम साहित्यिक कथाकार हैं।

खत्रीजी के उपन्यासो में केवल मनोरंजन का लक्ष्य होने के कारण, पात्रों के अनुरूप भाषा का प्रवाह परिवर्त्तित नहीं हुआ है।

प्रेमचंदजी ने स्वाभाविकता की सृष्टि के लिये यथानुरूप भाषा को बदल देने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगो का विचार है कि उनका "ग्रामीणों के द्वारा ग्राम्य भाषा का प्रयोग करवाना तथा मुसलमानों के द्वारा उर्दू भाषा का प्रयोग करवाना बहुत उचित नहीं है।.........यदि प्रेमचंदजी की किसी कहानी मे कोई पात्र चीन देश का होगा, तो क्या वे उससे चीनी भाषा में बोलवावेगे ?" हमे तो यह प्रश्न ही हास्यास्पद जान पड़ता है। अवश्य ही एक चीनी लेखक जिस प्रकार अपनी कहानियों के किसी भारतीय पात्र-द्वारा भारतीय भाषा नहीं बोलवा सकता, उसी प्रकार भारतीय लेखक भी चीनी पात्र की चीनी भाषा का उपयोग नहीं कर सकता। परन्तु, एक चीनी लेखक अपने यहाँ के ग्रामीण किसानो एवं इतर श्रेणियों के पात्रों की बातचीत के अनुरूप भाषा की अवतारणा तो कर ही सकता है। यदि इतने से हम साहित्य मे एक सहज स्वाभाविकता ला सकते हैं, तो यह अच्छी ही बात है। प्रेमचन्दजी ने अपनी कृतियों मे इस बात का ध्यान रक्खा है कि उनका पात्र यदि मुसलमान है तो उसकी भाषा में उर्दू की तत्समता का और यदि हिन्दू है तो संस्कृत की तत्समता का प्रयोग हो।

प्रेमचन्दजी मनोभावों को साकार रूप देने के लिये प्राय: उपमा और उत्प्रेक्षा का आश्रय लेते हैं। उनकी यह उपमा और उत्प्रेक्षा यदि कहीं-कहीं उनकी भाषा में चार चाँद लगा देती है तो कहीं-कहीं अति-सी भी हो जाती है, जिसके कारण भाषा

का सहज सुन्दर रूप कृत्रिम हो जाता है। प्रेमचन्दजी की भाषा का अत्यधिक सुन्दर रूप उनके पात्रों के हृदयोद्‌गार में है, जहाँ स्वाभाविक उच्छ्‌वास की भाँति ही उसमे प्रगति एवं प्रवाह है। अथवा, जहाँ-जहाँ अपनी ओर से उन्होंने पात्रो की मनःस्थितियों का दिग्दर्शन कराया है, वहाँ भी भाषा प्राणस्पर्शिनी हो गयी है। यत्र-तत्र उनकी भाषा में बड़ी ही सुन्दर कवित्वपूर्ण व्यंजना भी रहती है।

प्रेमचदजी के वाक्य साधारणत. छोटे-छोटे होते हैं। इन छोटे-छोटे वाक्यो मे सादगी है। अवश्य ही उनमें सर्वत्र प्रवाह का आवेग नहीं। छोटे-छोटे वाक्यों में ही जहाँ कहीं कोई सुन्दर सूक्ति उन्होने लिख दी है, वहाँ "देखन को छोटे लगें, घाव करे गंभीर" वाली बात हो गयी है। प्रेमचंदजी की सूक्तियाँ उनके जीवन के अनुभवों की खमीर हैं। अपनी सूक्तियो के रूप में वे मानो हमें जीवन के प्रत्येक पग पर एक-एक मार्मिक 'मोटो' देते हैं, जो हृदय में उसी प्रकार मुद्रित हो जाते हैं, जिस प्रकार कागज के पृष्ठो पर छापे के अक्षर। प्रेमचंदजी के अतिरिक्त, अपनी कृतियों मे यत्र-तत्र सुन्दर सूक्तियों की सृष्टि करनेवाले कथाकार हैं—प्रसादजी।

प्रेमचदजी द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं। द्विवेदी-युग मे जिस प्रकार हिन्दी-कविता का नवोत्थान हुआ, उसी प्रकार हिन्दी-कथा-साहित्य का भी। परन्तु, कहा जा चुका है कि द्विवेदी-युग की कविताएँ इतिवृत्तात्मक ( Matter of Fact ) ही अधिक

हैं। साहित्य के नव प्रयास मे यह स्वाभाविक ही है। प्रेमचंदजी की कथाकृतियों के लिये भी यही बात लागू है। उनकी कृतियाँ भी इतिवृत्तात्मक ही हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचंदजी की कृतियों में कथात्मकता बहुत है। उनमें कला-पक्ष कम, कहानी-पक्ष अधिक है। उर्दू-साहित्य अपनी कहानियो और किस्सों के लिये चरम सीमा पर पहुँच चुका है। प्रेमचन्दजी ने उसकी किस्सानुमी खूबियों को अपनी कहानियों में देश-काल के वातावरण से प्रभावित कर भली-भाँति उपस्थित किया है। उपन्यासों मे वे इससे जरा और ऊपर उठकर, केवल देश-काल के वातावरण से ही नहीं, बल्कि कला की विश्व-व्याप्त प्रगति से भी प्रभावित हुए है। टाल्स्टाय की कहानियों के अनुवाद मे जिस प्रकार उन्होंने अंगरेजी को हिंदी-रूप दिया है, विश्व-साहित्य की प्रेरणा भी उनकी उसी प्रकार की है।

प्रेमचंदजी के उपन्यासो के सम्बन्ध में, आचार्य्य शुक्लजी अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—"इनमें कुछ खटकनेवाली बात यह मिलती है कि आख्यान समाप्त होते-होते प्रेमचंदजी का कलाकार ( Artist ) का रूप प्राय. छिप जाता है और वे एक प्रचारक ( Propagaudist ) के रूप मे सामने आ जाते हैं।" इसका कारण, मै निवेदन करूँ, प्रेमचन्दजी उस साहित्यिक परम्परा के कथाकार हैं, जो देश-काल की जनता को साहित्य की मनोरमता मे सामयिक विचारों से प्रभावित करते आये हैं। गाँधी-युग के विचारों का जितना उनके साहित्य-द्वारा

प्रचार हुआ उतना किसी अन्य के द्वारा नहीं। सब मिलाकर अपने समय की जागृति के वे सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे।

हाँ, कहानी पक्ष की अधिकता तथा प्रचारक-वृत्ति की आदर्श-वादिता, ये दोनो ही बातें, कला की दृष्टि से प्रेमचंदजी की लेखनी को गौण भी कर देती है। आज तो साहित्य मे एक आवाज़ सुनायी पड़ती है— "कला कला के लिये!" हाँ, इस कथन के आधार पर साहित्य मे जिन कलुषित लालसाओं को प्रश्रय दिया जा रहा है, हम उनके समर्थक नही। "कला कला के लिये"—इस वाक्य में जो गूढ़ ध्वनि छिपी हुई है, उसे ज़रा गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। इस ध्वनि का तात्त्विक अभिप्राय यह है कि हम समाज की तरह साहित्य मे भी रूढ़ियो के पाबन्द होना अनिवार्य्य नहीं समझते।

"कला कला के लिये"—यह सिद्धान्त इसलिये नहीं है कि कोई लेखक इसकी ओट मे केवल मानसिक विलासिता करे। नहीं, यह तो साहित्य-क्षेत्र मे कलाकार के लिये एक सुन्दर स्वतन्त्रता है, जिसके द्वारा उसकी नूतन मौलिक प्रतिभा, परम्पराओं की बँधी सीमा से परे होकर अपना स्वतन्त्र विकास कर सके! कोई भी लेखक कला की इस स्वतत्रता का सदुपयोग भी कर सकता है, दुरुपयोग भी। "कला कला के लिये"—जब इस दृष्टि-कोण को अपनाकर कुशल कलाकार अपनी दृष्टि को 'वाद-विशेष' की सीमा से बाहर, उन्मुक्त आकाश की तरह दूर तक फैला देता है, तभी वह अपने जिज्ञासु पाठकों के भीतर भी मौलिक भावनाओं

की उद्भावना कर सकता है; अन्यथा वह उन्हे मानसिक गुलाम बना देगा। कलाकार योगी न होते हुए भी विश्व के रंग-मंच का एक निर्लिप्त दर्शक है, अच्छे-बुरे सभी पात्रों को वह निरपेक्ष दृष्टि से देखता है; और जो स्वतन्त्र चित्र उसे प्राप्त होता है, पाठको के सामने उपस्थित कर देता है। अपने स्वतन्त्र चित्र की भाँति ही उसकी शैली के रंग-रूप भी अपने होते हैं और इसलिये वह कह सकता है—कला का विकास कला में है, किसी युग-विशेष की साहित्यिक रूढ़ियो में नहीं।

परन्तु, इस कला का उद्देश्य क्या है?—क्या यथार्थवाद के नाम पर नग्न चित्रों का प्रदर्शन? यदि इतना ही उद्देश्य हो तो हम बिना कलाकार की सहायता के ही समाज में आये दिन वैसे चित्र देख सकते हैं। हमारी समझ में तो यथार्थवाद स्वयं एक ऊँचे दर्जे का आदर्शवाद है। उसके द्वारा हम नग्न चित्रों का प्रदर्शन नहीं करते, बल्कि यथार्थ चित्र तो एक साधनमात्र होते हैं, किसी महत् साध्य को संकेत-रूप में इंगित करने के लिये। इस प्रकार की कृतियों के लिये कला की बारीकी अधिक अपेक्षित रहती है। आदर्शवादी जिस आदर्श अथवा अभाव को अपनी ओर से पात्रों द्वारा प्रकट कर देता है, उसे यथार्थवादी कला के संकेतों से पाठकों की जिज्ञासा के लिये छोड़ देता है, ताकि पाठक उसे हृदयंगम करने में लेखक पर ही आश्रित न होकर अपने हृदय से भी काम लें, न कि चिरपरिचित नीति-वाक्यों की भाँति उसे भूल जायँ। इस भाँति कुशल यथार्थवादी समाज को मननशील बनने का

अवसर देता है और जिस बात को मनन करना पड़ता है, वह सहज ही भूली नहीं जा सकती।

अतएव, यथार्थवाद भी सामाजिक दृष्टि से उसी अभीष्ट की पूर्ति करता है, जिसके लिये आदर्शवाद का चिरपरिचित स्वर अनेक युगों से सुनायी पड़ता है—कभी नीति के दोहो में, तो कभी उपदेश की कहानियों में, तो कभी आदर्श-चरित्रों की अवतारणा करनेवाले उपन्यासों में। लक्ष्य दोनों का एक ही है, अन्तर यह है कि एक विष्णु की तरह सूक्ष्म रहकर अपने अभीष्ट को प्रकट करता है, तो दूसरा नारद की तरह प्रत्यक्ष एवं मूर्तिमान् होकर।

परन्तु, इसके साथ ही एक बात और भी—यथार्थवाद के नाम पर साहित्य में जीवन की हू-ब-हू फोटोग्राफी नहीं चाहिये; चाहिये सजीव चित्रकारी। एक निपुण चित्रकार भली-भाँति जानता है कि कहाँ कितना अश चित्रित करना चाहिये, और कितना अंश छोड़ देना चाहिये—कहाँ कितना हल्का रंग देना चाहिये, कहाँ कितना गहरा। क्या एक फोटोग्राफर भी इस बात को जानता है? नहीं, फोटोग्राफर की कृति मे कुछ भी 'निजत्व' नहीं रहता, वह तो एक यन्त्र के सामने खड़ा हुआ दूसरा यन्त्र है। परन्तु, चित्रकार की चित्रकारी? अपने चित्रकार के रंग में रँगी, अपने कलाकार के प्राण मे पगी, एक सुन्दर स्वतंत्र सृष्टि है। प्रेमचंदजी हमारे साहित्य के आदर्शवादी कथाकार हैं। यह प्रत्यक्ष आदर्शवादिता ही उनकी कृतियो में अत्यधिक 'कहानीपन' का कारण है।

कुछ लोगों का विचार यह है कि प्रेमचदजी की कहानियाँ, उपन्यासो की अपेक्षा अधिक अच्छी बन पड़ी है। इसका कारण कहानियों में प्रेमचंदजी कला को अधिक अपना सके है। उनकी कई कहानियाॅ सचमुच ही खूब बन पड़ी हैं, उनमें प्रेमचंदजी की कलम बोल रही है। 'रानी सारन्धा', 'कामनातरु', 'सतरंज के खिलाड़ी' जैसे कहानियाॅ एक बार पढ़कर फिर भूलने की नहीं।

प्रेमचंदजी ने अपनी कथाओ में समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के पात्र चुने हैं; जैसे—किसान, जमींदार, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मिल-मालिक और मजदूर, महात्मा, दुश्चरित्र तथा भोले-भाले बालक और ग्रामीण स्त्रियाँ। ये सभी जीवन के रंगमञ्च पर प्रेमचंदजी द्वारा सजीव रूप में अवतरित हुए हैं। इन सबकी प्रकृति, इनकी भाषा, इनकी भाव-भगी, प्रेमचंदजी की कृतियों में देखने की वस्तु हैं।

प्रेमचंदजी अपनी कृतियों मे सीधी-सादी 'साइकौलोजी' ही कुशलता-पूर्वक दिखला सकते हैं। वे सीधी-सपाट सड़क पर तो चल सकते हैं; किन्तु मानव-हृदय के तारों की तरह सूक्ष्म, शत-शत शाखाओं में फूटी हुई इधर-उधर घूमी-फिरी ऊँची-नीची जीवन की पतली पगडंडियों पर नही। दूसरे शब्दों में वे स्थूल मनोवृत्तियों के ही लेखक हैं, सूक्ष्म मनोभावों के कम।

प्रेमचन्दजी की कथा-कृतियों में सबसे अधिक मार्म्मिक चरित्र-चित्र हैं, दीन-दुखियों एवं ग्रामवासियों के। कारण, व्यक्तिगत जीवन में स्वयं प्रेमचन्दजी उनके बहुत निकट रह

चुके हैं। "श्री प्रेमचन्दजी ने जिस समाज का चित्र अङ्कित करने का बीड़ा उठाया, वह दीन है। उसमे स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमे उच्च भावनाओ का उन्माद नहीं है। यही कारण है कि विशेषत. उन स्थानो पर जहॉ उन्हे कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहॉ एक दीप्ति उत्पन्न हो गयी है।"

प्रेमचन्दजी विशेषत. 'जनता के साहित्यकार' हैं।

साहित्यिक दृष्टि से प्रेमचन्दजी से आलोचकों का चाहे जितना मतभेद हो ; परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य मे उनका एक अपना स्थान है। प्रत्येक क्षेत्र मे दो तरह के महापुरुष अपना महत्व छोड़ जाते हैं—एक वे जो इतिहास की नींव डालकर आनेवाली सन्तानो के लिये भविष्य का मार्ग खोल देते हैं, और दूसरे वे जो उस मार्ग पर चलकर अपनी प्रतिभा, बुद्धि और कर्म-वीरता से संसार को चकित कर देते हैं। इस दृष्टि से, हिन्दी के गद्य-क्षेत्र में श्री प्रेमचन्दजी और पद्य-क्षेत्र मे बा० मैथिलीशरण गुप्त, पिछले बीस वर्षों के हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव मजबूत करनेवाले हैं। हमारे ये पूज्य लोग अपना काम कर चुके, अब आगे साहित्य-निर्माण का काम नये-नये लेखकों और नये-नये कवियों के लिये है।

प्रेमचन्दजी की कृतियो को जन-साधारण ने खूब अपनाया। उनकी कोई कोई कहानी और कोई-कोई वाक्य तो इतने मर्म्म-स्पर्शी हैं कि उन्हे पढ़कर भारी से भारी ठोकर खाया हुआ मनुष्य भी पुन: जीवन-पथ पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

उनकी कुछ उत्तम कहानी-पुस्तकों और उपन्यासों के नाम ये हैं—सेवा-सदन, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गबन, कायाकल्प, कर्म्मभूमि, निर्मला, सप्तसरोज, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-पचीसी, प्रेम-प्रमोद, प्रेम-प्रसून, नवनिधि, इत्यादि। आपने 'कर्बला', 'संग्राम', 'प्रेम की वेदी' नामक नाटक भी लिखे हैं। किन्तु, आपकी लेखनी नाटक की अपेक्षा कहानी के ही अनुकूल अधिक है। नाटकीयता न तो आपकी प्रकृति मे और न आपकी कृति मे ही है।

प्रेमचन्दजी का स्वभाव बहुत सीधा-सादा और प्रसन्न है। वे छोटे-बड़े सबसे खुले जी से मिलते हैं।

प्रेमचन्दजी ने जीवन मे बड़ी-बड़ी तकलीफें उठायी हैं। जीवन की दुखमयी घटनाओ ने उन्हें कट्टर भाग्यवादी बना दिया है और उनकी कथा-कृतियों में भी हम इसका परिचय पाते हैं।

उनका जन्म काशी के लमही नामक गाँव में सम्वत् १६३७ मे हुआ। असली नाम धनपतराय है; प्रेमचन्द साहित्यिक नाम। कुछ दिनों तक सिनेमा लाइन मे भी काम किया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग ने अपने ५००) के पुरस्कार से आपके 'कर्म्मभूमि' नामक उपन्यास को पुरस्कृत किया है।*

---

* खेद है कि ८ अक्टूबर १६३६ ई० को प्रेमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया। 'गोदान' इनकी अन्तिम कृति है।

# मैथिलीशरण गुप्त

आज से १६-१७ वर्ष पहले एक छोटे-से देहात के प्राकृतिक वातावरण मे जिस कवि की पक्तियों ने, कविता के प्रति मेरे शिशु-हृदय को सचेष्ट किया था, वह थे बाबू मैथिलीशरण गुप्त। उन दिनों देहाती मदरसे की अपनी छोटी-सी पाठ्य-पुस्तक (हिन्दी-प्रवेशिका) द्वारा ही प्रथम-प्रथम मैं इस कवि से कुछ-कुछ परिचित हो सका था। उस युग के और भी कवियों की थोड़ी-बहुत पंक्तियाँ मेरी आँखो के सामने आयी तो थी; परन्तु न जाने क्यों गुप्तजी ने ही मुझे अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। इसका कारण कदाचित् यह हो सकता है कि उनकी कविताओ में ठेठ भारत की ठेठ स्वाभाविकता इतनी सुरक्षित है कि वह सहज ही मेरे उस समय के ग्रामीण शिशु-हृदय को अपना बनाने मे सफल हुई। साहित्यिक हलचल से शून्य, देहात के उस ठेठ वातावरण में, बिना किसी पथ-प्रदर्शक के ही, गुप्तजी की कुछ पंक्तियों ने मेरे हृदय के जो प्रथम तार बजाये, उसकी स्मृति मेरे जीवन में सदैव के लिये अक्षय है। और, मैं कह सकता हूँ कि मेरी ही तरह और भी कितने ही हृदयो को काव्य-क्षेत्र मे प्रथम-प्रथम गुप्तजी की कविताओं-द्वारा ही जागृति, स्फूर्ति और प्रेरणा मिली है।

इसीलिये, प्रगति की दृष्टि से हिन्दी-कविता के बहुत दूर तक अग्रसर हो जाने पर भी, हम अपनी वर्त्तमान पीढ़ी के इस आदि कवि को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते रहेंगे।

एक दिन गुप्तजी ने 'भारत-भारती' में अपनी लेखनी को सम्बोधित करके कहा था—

"स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो।
जग जाँय तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो॥"

यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा था—

"मानस-भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी 'भारती'॥"

गुप्तजी की दोनो ही अभिलाषाएँ पूरी हो गयी हैं—उनकी 'भारत-भारती' द्वारा राष्ट्र के तरुण-हृदयों के सोये हुए भाव जागृत हुए और उनकी 'भारत-भारती' का देश के कोने-कोने में प्रचार हो गया। एक प्रभावशाली नेता, अपने व्यक्तित्त्व-द्वारा, हिन्दी और हिन्दी-जनता का जितना उत्थान कर सकता है, वही काम अकेले 'भारत-भारती' ने किया है।

गुप्तजी की प्रारंभिक कविताएँ, बहुत पहले, कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले 'वैश्योपकारक' मे छपतीं थीं। इसके बाद आचार्य्य द्विवेदीजी से आपका परिचय हुआ। यह परिचय गुप्तजी के लिये ही नहीं, बल्कि समस्त हिन्दी-जगत के लिये शुभ हुआ। द्विवेदीजी ने, गुप्तजी को परामर्श दे-देकर देश-काल के अनुरूप कविताएँ लिखवायीं, और 'सरस्वती' मे प्रकाशित कीं। उसी वृद्ध ब्राह्मण के

आशीर्वाद से आज गुप्तजी हमारे साहित्य में प्रकाशमान हैं।

द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का नवारम्भ करनेवाले प्रथम कवि स्व० पण्डित श्रीधर पाठक थे, जिनकी प्रशंसा मे, उस समय द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में 'श्रीधराष्टक' शीर्षक कविता लिखी थी। इनके अतिरिक्त पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और स्व० पण्डित नाथूराम शर्म्मा 'शंकर' भी खड़ी बोली मे गुप्तजी से पहले पदार्पण कर चुके थे। फिर भी, इन महारथियों के बीच, खड़ी बोली के प्रतिनिधि-कवि के रूप मे गुप्तजी का ही स्थान है। इसका कारण यह है कि उस युग के अन्य महारथियों ने भाषा और भाव दोनो ही दृष्टि से हिन्दी-कविता का उतना विस्तार नहीं किया, जितना कि गुप्तजी ने। पाठकजी और शंकरजी की कविताओं की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है नहीं, उसमे ब्रजभाषा की यमुना का पानी भी मिल गया है। मेरी समझ में, खड़ी बोली में ब्रजभाषा का मिश्रण शंकरजी किसी विशेष सिद्धांत-वश नहीं, केवल यत्र-तत्र पद बैठाने के लिये करते थे, तथा पाठकजी खड़ी बोली के रूखेपन को अधिक से अधिक मृदुल-मधुर और मनोहर बनाने के लिये, जिसमें उन्हे बहुत-कुछ सफलता भी मिली। उपाध्यायजी ने भी खड़ी बोली में ब्रजभाषा का यत्किञ्चित मिश्रण किया है; किन्तु प्रिय-प्रवास द्वारा उक्त दो कवियों के अतिरिक्त आपका काव्य-विस्तार कुछ अधिक है। आपकी प्रतिभा प्रिय-प्रवास से आगे अपना और विस्तार न कर सकी। खड़ी बोली के रिक्त भण्डार में अभी बहुत-कुछ अपेक्षा थी।

इधर गुप्तजी ने खड़ी बोली को खड़ी बोली के रूप में ही सुन्दर, सुघर एवं मधुर-मनोहर बनाने की ओर ध्यान दिया। और, हम कह सकते हैं कि उन्होंने ही खड़ी बोली को विशुद्ध और प्रवाहपूर्ण बना दिया। न केवल भाषा की दृष्टि से, बल्कि भाव की दृष्टि से भी उन्होंने उस युग के कवियों की अपेक्षा अधिक से अधिक काव्य-कृतियाँ ( मुक्तकों और खण्ड-काव्यों के रूप मे ) खड़ी बोली के रिक्त हृदय में अधिष्ठित कर दीं। इसके अतिरिक्त बँगला के माध्यम-द्वारा, विश्व-साहित्य की प्रगति से परिचित रहने के कारण, खड़ी बोली के उस युग में भी जब कि शुक्लजी के शब्दों में इत्तिवृत्तात्मक ( Matter of Fact ) कविताओं का ढेर लग रहा था, आपने हिन्दी-कविता को भाव-प्रधान बनाया; अनु-वादों-द्वारा और अपनी मौलिक कृतियों-द्वारा। अनुवाद आपने प्राय: बँगला से ही किये हैं। ये अनुवाद कितने अच्छे बन पड़े हैं, इसके सम्बन्ध में स्व० रत्नाकरजी ने 'मेघनाद-वध' पर सम्मति देते हुए खड़ी बोली के उसी अतुकान्त कवित्त छंद में लिखा था—"स्वाद है भरा बँगला मिठाई का !" आपकी मौलिक कृतियों में से 'साकेत' के बहुत सुन्दर सर्ग द्विवेदी-युग में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए थे। 'झनकार' ( जिसमें हम नवीन हिन्दी-कविता का रंग देखते हैं ) की भी अधिकांश कविताएँ द्विवेदीजी के समय में ही 'सरस्वती' मे प्रकाशित हो चुकी हैं। अपने "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" में शुक्लजी ने 'झनकार' की कविताओं को ही लक्ष्य कर लिखा है—"अन्त में जब रवीन्द्र बाबू की 'नीरव-

क्रान्ति' हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने लगी, तब गुप्तजी की वाणी मे काव्य की मनोहर लाक्षणिकता और सुन्दर मूर्त्तिमत्ता का भी विधान हुआ।"—शुक्लजी के कथनानुसार तो इस 'नीरव-क्रान्ति' का प्रवेश द्विवेदी-युग मे ही हो चुका था। और, द्विवेदी-युग में जिस इतिवृत्तात्मकता की भरमार थी, उसका परिहार उस 'नीरव-क्रान्ति' (!) द्वारा ही हुआ !!

खड़ी बोली के उस विगत युग मे गुप्तजी ने भी इतिवृत्तात्मक कविताएँ बहुतायत से लिखी थीं जिनमे से अधिकांश उनकी 'पद्य-प्रबन्ध' नामक कविता-पुस्तक मे देखी जा सकती है। उस समय हमारे काव्य-साहित्य की बाल्यस्थिति ही ऐसी थी कि उसके आरंभिक उत्थान के लिये कोई विशेष भाव-साधन नही उपलब्ध हुआ। यद्यपि गुप्तजी की 'भारत-भारती' द्वारा "खड़ी बोली बहुत ही व्यवस्थित, स्वच्छ और परिष्कृत रूप में दिखायी पडी; परन्तु उसमें भी प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका है।* वर्णन प्रायः इतिवृत्त के रूप मे ही हैं; पर इसने हिंदी-कविता के लिये खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। इसके उपरान्त गुप्तजी की जो कविताएँ निकलती गयीं, उनमे उत्तरोत्तर काव्यत्व आता गया। 'केशों की कथा', 'स्वर्गसहोदर'

---

* जिस विषय और उद्देश्य को लेकर 'भारत-भारती' लिखी गयी है, उसकी कोटि में लिखी गयी सभी कविताएँ भाव-प्रधान नहीं, वस्तु-प्रधान ही होंगी।—ले०

इत्यादि बहुत-सी फुटकर कविताएँ जो इन्होंने लिखीं, वे सब रुचिर भावों से पूर्ण हैं।'

आज हिन्दी-कविता प्रगति के पथ पर बहुत आगे जा चुकी है और द्विवेदी-युग की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली नक्षत्र उदित हो चुके हैं; फिर भी इस विकास और प्रकाश का श्रेय द्विवेदी-युग के उन आरंभिक कवियों ( विशेषकर गुप्तजी ) को ही है, हमें उन्हें उस समय की स्थिति के अनुसार ही मापना चाहिये, आज की दृष्टि से नहीं। किसी माला में प्रथम मणि, उपवन मे प्रथम पुष्प, गगन मे प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है वही वर्त्तमान हिन्दी-कविता मे गुप्तजी का है। अतएव, खड़ी बोली की वर्त्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि-कवि, बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं।

गुप्तजी की अब तक की मौलिक तथा अनुवादित, प्रमुख कृतियाँ ये है—

( १ ) विरहिणी ब्रजांगना, ( २ ) पलासी-युद्ध, ( ३ ) मेघनाद-वध, ( ४ ) जयद्रथ-वध, ( ५ ) भारत-भारती, ( ६ ) रंग मे भग, ( ७ ) किसान, ( ८ ) शकुन्तला, ( ९ ) पंचवटी, (१०) साकेत, (११) यशोधरा, (१२) त्रिपथगा, (१३) अनघ, (१४) वीरांगना। कुछ नाटक भी—'चन्द्रहास', 'तिलोत्तमा', 'स्वप्नवासवदत्ता' ( अनुवादित ) इनके अतिरिक्त, सामयिक प्रचार की दृष्टि से 'हिन्दू', 'गुरुकुल', 'स्वदेश-संगीत' नामक काव्य-पुस्तकें भी आपने लिखी हैं, जो कि इस बात को स्मरण कराती हैं कि आप राष्ट्रीय

कवि पहले हैं, बाद को और कुछ। इधर 'कुणाल' पर भी आप एक कविता-पुस्तक लिख रहे हैं, 'हसन-हुसेन' पर भी आप कुछ लिखना चाहते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग के अन्यान्य कवियों में केवल गुप्तजी ही आज भी नित्य नवीन उत्साह से हमारे काव्य-क्षेत्र मे अग्रसर हैं। गुप्तजी की भाषा और भाव दोनों में ही, ओज, प्रसाद और माधुर्य्य, ये काव्य-गुण वर्त्तमान हैं। अवश्य ही कहीं-कहीं आपकी भाषा रूखी हो जाती है; किन्तु अधिकांशत: वह ललित और परिष्कृत है। साथ ही व्याकरण-सम्मत भी।

अपने अनुवादित 'उमरखैयाम' की भूमिका मे आपने लिखा है—"दो-एक सज्जन मूल फारसी और मूल से भी अधिक प्रसिद्ध अँगरेजी अनुवाद से उनका अनुवाद कर रहे हैं। मेरे ये थोड़े-से पृष्ठ तब तक उनकी वाणी-रानी के स्वागत के लिये पाँवड़े के रूप में समझे जाँय।" और, सच पूछिये तो हिन्दी-काव्य के प्रत्येक क्षेत्र मे, उसके अभावनीय विषयों की पूर्ति कर गुप्तजी ने ही अपने 'पाँवड़े' रखकर भविष्य के स्वागत का आयोजन कर दिया है। यदि एक ओर आपने अपने अनुवादित काव्यों-द्वारा हिन्दी के हृदय-भण्डार को भरा है तो दूसरी ओर अपनी मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक कविताओं-द्वारा उसके शून्य भाल को अलंकृत किया है। इस प्रकार अपने प्रतिनिधित्व के उत्तरदायित्व का आपने पूर्ण निर्वाह कर दिया है। आपकी मौलिक कविताओं में से कुछ तो प्राचीन आर्य्य-गौरव का गान करती हैं, एवं प्राचीन

उपाख्यानों-द्वारा भारतीय संस्कृति को पश्चिम के इस सभ्यताभिमानी युग में भी जागरूक रखती हैं, और कुछ कविताएँ प्रेमचंद की तरह ही भारत की वर्त्तमान सामाजिक और राष्ट्रीय स्थितियों का निदर्शन कराते हुए देशवासियों को उनके कर्त्तव्य के लिये उद्बोधित करती हैं। आपकी जीवन-सम्बन्धी कविताओं में बहुत उत्साह और पौरुष है।

यथा—

"पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो !"

अथवा—

"नर हो न निराश करो मन को।"

इनके अतिरिक्त उनकी 'झनकार' जैसी कविताएँ भावुक हृदयों की हृद्तंत्रियों को भी बजाती हैं।

गुप्तजी ने मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों ही प्रकार की पर्य्याप्त कविताएँ लिखी हैं। परन्तु, उनका काव्य-गौरव मुक्तक कविताओं में उतना नहीं, जितना उनके प्रबन्ध एवं खण्ड-काव्यों मे है, और वे अपने इस गौरव मे खड़ी बोली के कवियों मे निस्सन्देह सबसे आगे हैं। वर्त्तमान युग में हिन्दी के प्रबंध-काव्यों की परम्परा को आप ही बनाये हुए है, जब कि हमारे नवीन साहित्यिकों की दृष्टि कहानी, नाटक, उपन्यास एवं मुक्तक कविता की ही ओर अधिक है। इस प्रकार प्रबध-काव्य के कथा-भाग की पूर्ति तो अन्य प्रकार से हो रही है; किन्तु कथा-वस्तु को एक 'कवि' अपने काव्य में ग्रहण कर उसके द्वारा जो जीवन की साँस फूँकता है

उसकी आवश्यकता भी साहित्य के प्रत्येक युग में बनी ही रहेगी।

नाटक, उपन्यास और कहानी की समष्टि शक्ति को लेकर प्रबन्ध-काव्यकार को साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण होना पड़ता है, और वह कथा-साहित्य के कोरे खुरदरे गद्य-रूप को अपने कवित्व की स्निग्धता से आवृत कर उसे भावुक सहृदयो की ही नही बल्कि लोक की भी वस्तु बना देता है। मुक्तक कविताओ-द्वारा कवि, लोक-दृष्टि से जीवन के व्यापक प्रसार का दिग्दर्शन कराने मे पर्य्याप्त समर्थ नहीं हो पाता; अतएव उसे कथा-रूप मे प्रबन्ध-काव्य का अवलम्बन करना पड़ता है। मुक्तक रूप मे तो कवि केवल जीवन के कुछ भाव-सूत्र ही दे सकता है, जिसमें कि वह 'वामन' की तरह अपने लघु रूप में ही रहता है; किन्तु प्रबन्ध-काव्य में उसका वामन-डग अपनी विस्तृत गति का पूर्ण परिचय देता है।

काव्य के मुक्तक रूप में जीवन का भाव-सूत्र किस प्रकार ग्रथित रहता है, इसका एक उदाहरण है, श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता; तथा प्रबन्ध-काव्य मे भाव-सूत्र के विस्तार का उदाहरण है, गुप्तजी का 'साकेत'।

हाँ, तो गुप्तजी का काव्य-गौरव, मुक्तक कविताओं की अपेक्षा उनके प्रबन्ध और खण्ड-काव्यो मे है। मुक्तक कविताओ मे गुप्तजी की लेखनी उतनी कुशलता से भाव-सृष्टि नहीं करती, जितनी कि उनके काव्यों में। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुछ लोगों की वृत्ति कथात्मक होती है, तो कुछ लोगों की भावात्मक। हाँ, कुछ लोगों में ये दोनों वृत्तियाँ अपने चरम उत्कर्ष पर रहती हैं;

किन्तु इसे अपवाद ही समझना चाहिये। यो, प्राय: देखा जाता है कि भावात्मक वृत्ति के व्यक्ति अपनी कथात्मक कृति में उसी प्रकार सफल नहीं हो पाते जिस प्रकार कथात्मक वृत्ति का कवि अपनी मुक्तक भावात्मक सृष्टि में। परन्तु, कर्त्तव्य दोनों का ही अपने-अपने स्थान पर गुरुतर है। इसके साथ ही, भावात्मक कवि का कर्त्तव्य-क्षेत्र निरवलम्ब है, तो कथात्मक कवि का साधार है। कारण, प्रबन्ध-काव्यों मे कथा का आधार मिल जाने से कवि की कल्पना-विहंगिनी, कथा की शाखा-प्रशाखाओं पर विश्राम लेती हुई भावों के मुक्त आकाश मे सहज उड़ती है; परन्तु भाव-काव्य मे कथा का पूर्ण अभाव रहता है। अतएव, कल्पना को पूर्ण स्वावलम्बी बनकर ही वायु-मण्डल मे उड़ना पडता है। वह उड़ते-उड़ते कुछ क्षण अपने ही परों में विश्राम लेकर पुन:-पुन: अपने अभीष्ट की ओर अग्रसर होती है।

परन्तु, प्रबन्ध-काव्य में कथा-वस्तु का आधार मिल जाना बड़ी बात नहीं; बड़ी बात है, उस आधार का कवि-द्वारा कलात्मक ढंग से उपयोग किये जाने मे। प्रबन्ध-काव्य मे तो कथा को काव्य के लिये अवलम्बन बना देना पड़ता है, न कि काव्य को कथा के लिये। काव्य में यदि हम कथा ही देखना चाहते, तो गल्पों को काव्य मे क्यों स्थान मिलता। अतएव, काव्यगत भाव के प्रस्फुटन के लिये किस प्रकार, कहाँ, कितने अंश मे, कथा-वस्तु का उपयोग किया गया है, कवि की लेखनी-द्वारा हम इस आर्ट को देखने की अपेक्षा रखते हैं।

मुक्तक कविताओं के इस भाव-युग मे गुप्तजी ने अपने प्रबन्ध और खण्ड-काव्यो-द्वारा अन्य कवियों की अपेक्षा स्वभावतः अपना एक स्वतंत्र स्थान बना लिया है। अपने कथात्मक काव्यों के कारण ही वे लोक-दृष्टि तक पहुँच सके हैं, जब कि अपनी गूढ़-निगूढ़ भावात्मक कविताओं के कारण इस युग के अन्य विशिष्ट कवि सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं हैं। गुप्तजी सर्वसाधारण के कवि हैं; अतएव सर्वसाधारण ने जितना आपको अपनाया, उतना किसी अन्य वर्त्तमान हिन्दी-कवि को नहीं। इस प्रकार हमारे गद्य-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी की जो कीर्ति है, वही पद्य-क्षेत्र में गुप्तजी की।

गुप्तजी ने अपने आरम्भिक साहित्यिक जीवन में, 'चन्द्रहास' और 'तिलोत्तमा' नामक जो नाट्यकृतियाँ लिखी थीं, वे मानो उनके हृदय की उस कथा-वृत्ति की परिचायक थीं जो आगे चलकर उनके प्रबन्ध और खण्ड-काव्यों में प्रस्फुटित हुईं। संभव है, वे केवल नाटक लिखकर अपनी कृतियों-द्वारा लोगों को उतना आकर्षित न करते जितना कि उन्होने अपने काव्यो-द्वारा किया। और, यह सुन्दर ही हुआ कि उनकी कथा-वृत्ति ने अपने उचित उपयोग के लिये एक पथ प्राप्त कर लिया।

हमारी समझ में गुप्तजी की मुक्तक कविताओं के प्रतिनिधि-स्वरूप उनकी 'झनकार' और 'स्वदेश-संगीत' नामक पुस्तकें उपस्थित की जा सकती हैं, तो प्रबन्ध-काव्यों के प्रतिनिधि-स्वरूप— 'साकेत', 'यशोधरा', 'पञ्चवटी', 'अनघ', 'जयद्रथ-वध।'

'स्वदेश-सगीत', 'भारत-भारती' का छोटा भाई ही है, और यह हिन्दी-कविता के उन दिनों की याद दिलाता है जब खड़ी बोली ने राष्ट्रीय जागरण के युग मे सर्वप्रथम राष्ट्रीय भावनाओं-द्वारा ही अपने कंकाल में प्राण भरने का प्रयत्न किया था।

'झनकार' गुप्तजी की मुक्तक एवं भावात्मक कविताओ का सग्रह है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इसकी प्राय: सभी कविताएँ द्विवेदीजी के सम्पादन-काल मे सरस्वती मे प्रकाशित हो चुकी हैं। खड़ी बोली के उस शैशव मे भी काव्य की नवीन भावनाओं ने किस प्रकार कैसा स्वरूप प्राप्त किया था, 'झनकार' इसका एक उदाहरण है। इसमे उस समय की काव्य-स्थिति के द्योतक शिशुभाव भी है और क्रमशः विकास के अनुसार प्रौढ़ भाव भी।

'झनकार' की अधिकांश कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आ सकती हैं। गुप्तजी एक प्रभुभक्त वैष्णव कवि है, अतएव यह स्वाभाविक ही था कि अपने परमाराध्य के चिन्तन में खड़ी बोली के उस शिशुकाल में भी उन्होंने रहस्यवाद के छंद गूँथे। 'झनकार' के समर्पण के ये कुछ शब्द ही उन्हे राष्ट्रीयता से परे एक अन्य भाव-भूमि पर उपस्थित कर देते हैं—

"स्वर न ताल, केवल झंकार
किसी शून्य में करे विहार!"

अथवा—

"इस शरीर की सकल शिराएँ हों तेरी तंत्री के तार,
आघातों की क्या चिन्ता है उठने दे ऊँची झंकार।

नाचे नियती, प्रकृति सुर साधे, सब सुर हों सजीव साकार,
देश-देश मे, काल-काल में, उठे गमक—गहरी गुंजार।
कर प्रहार, हाँ कर प्रहार तू, मार नहीं, यह तो है प्यार,
प्यारे, और कहूँ क्या तुझसे, प्रस्तुत हूँ मैं, हूँ तैयार।"
मेरे तार-तार से तेरी तान-तान का हो विस्तार,
अपनी अँगुली के धक्के से खोल अखिल श्रुतियों के द्वार।
ताल-ताल पर भाल झुकाकर मोहित हों सब वारवार,
लय बँध जाय और क्रम-क्रम से सबमे समा जाय संसार।

गुप्तजी सगुणोपासक वैष्णव हैं; अतएव उनकी रहस्यवाद की कृतियो मे भी सगुणोपासना का स्वर है। यथा—

"सखे, मेरे बधन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ आप खुलूँ मैं,
तू न बीच में बोल।
सिद्धि का है साधन ही मोल,
सखे, मेरे बंधन मत खोल।
खोले-मूँदे प्रकृति पलक निज, फिर दिन हो फिर रात,
परम पुरुष, तू परख हमारे घात और प्रतिघात।
उन्हें निज दृष्टि तुला पर तोल
सखे, मेरे बंधन मत खोल।"

इस भाँति, वे इस संसार से विरक्त होकर निर्गुण उपासना की अपेक्षा सांसारिक बन्धनों में रहकर सगुण उपासना-द्वारा ही अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहते हैं तभी तो वे अपनी राष्ट्रीय

भावनाओं में भी कर्मशील बने रह सकते हैं। इसीलिये, उन्होंने 'स्वदेश-संगीत' में गाया है—

"भजो भारत को तन-मन से
बनो जड़ हाय! न चेतन से
करते हो किस इष्टदेव का आँख मुँदकर ध्यान?
तीस कोटि लोगों में देखो तीस कोटि भगवान।
मुक्ति होगी इस साधन से
भजो भारत को तन-मन से।"

इस भावाभिव्यक्ति में गुप्तजी स्पष्ट रूप से रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रभावित हैं।

गुप्तजी के जीवन का आध्यात्मिक आदर्श उनके 'अनघ' नामक गीतिनाट्य मे बहुत सुन्दर रूप में प्रकट हुआ है। उसका मोटो है—

"न तन-सेवा, न मन-सेवा,
न जीवन और धन-सेवा,
मुझे है इष्ट जन-सेवा,
सदा सच्ची भुवन-सेवा।"

'अनघ' में भगवान बुद्ध के पूर्व के अवतारों में से एक का महान् चरित्र है। स्वय वैष्णव होते हुए भी, गुप्तजी को अन्य सम्प्रदायों के भीतर से जीवन की जो स्वर्गीय निधियाँ प्राप्त हो सकती हैं वे उन्हे निस्संकोच रूप से अपने काव्यों में ग्रहण कर लेते हैं; क्योंकि वे आदर्श के पुजारी हैं न कि केवल किसी मत-

विशेष के। इसी कारण उन्होंने अपने 'गुरुकुल' नामक काव्य-द्वारा सिक्ख-मत के प्रातःस्मरणीय पुरुषों के चरित्र-चित्र भी उपस्थित कर दिये हैं।

प्राचीन आख्यानो-द्वारा वे अपने काव्यों में जिन अलौकिक चरित्रों की अवतारणा करते है, उसका सामञ्जस्य वे लौकिक दृष्टि से वर्त्तमान जीवन के अनुरूप करते हैं, ताकि उन्हें हम पौराणिक युगों की ही गाथा न मानकर आज भी ग्रहण कर सकें। यही कारण है, जो गुप्तजी के काव्यगत प्राचीन आख्यानों में हमें वर्त्तमान युग के देश और समाज की ताजी से ताजी उल्लेखनीय बाते देखने को मिलती हैं। इस दृष्टि से 'अनघ' के गीतिनाट्य मे हमे 'मघ' के रूप मे विश्ववन्द्य बापू का दिव्य-दर्शन प्राप्त होता है। इसके साथ ही उनके आज के ग्रामोद्योग-संघ की ध्वनि को भी हम दस वर्ष पूर्व लिखे गये इस गीतिनाट्य मे सुन पाते हैं। नवजागरण के इस युग में हमारी देवियों ने जगकर लोक-सेवा के जिस पावन आदर्श मे अपने सुख-सुहाग को एक कर दिया है, उसकी झलक 'मघ' की भावी पत्नी 'सुरभि' में मिलती है। 'मघ' जब राजकोप का भाजन बनकर सुरभि से बिदा होते समय कहता है—

"तुमसे मैं क्या कहूँ, सदैव सुखी रहो।"—

तब सुरभि कहती है—

"यह तो है अभिशाप, अहो ऐसा न हो
जो सब कल्प कर रहे तुच्छ सुख के लिये.

सुख का यह आशीष उन्हींको चाहिये,
इष्ट मुझे है यही—सहूँ शत दाह मैं,
चैन न पाऊँ, करूँ न फिर भी आह मैं।
विश्ववेदना विकल करे मुझको सदा,
रक्खे सजग सजीव आर्ति या आपदा।
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो,
जीवन ज्वलित कृशानु-समान पुनित हो।"

इस पीड़ित देश के भारतीय नारियों का वर्त्तमान आदर्श उन्होंने सुरभि के रूप मे ही निर्दिष्ट किया है।

इस प्रकार वर्त्तमान युग की दैशिक और सामाजिक आदर्श-भावनाओ को हम उनके 'साकेत' तथा अन्य आख्यान-काव्यों में भी प्रचुरता से पाते हैं।

प्राचीन चरित्रों को वर्त्तमान युग के निकट लाने के लिये उन्होंने उनमें यत्र-तत्र इतनी मानवीय स्वाभाविकता ला दी है कि पुरातन के संस्कार-बद्ध भारतीय हृदयों को वह खटक-सी जाती है। 'पंचवटी' नामक पुस्तक में गुप्तजी ने सीता और लक्ष्मण के बीच भाभी और देवर का-सा परिहास करा दिया है, मानो उस प्रसंग में उन्होंने आदर्श के साथ यथार्थ का समन्वय कर दिया हो। सांसारिक दृष्टि से यह सुन्दर स्वाभाविक होते हुए भी समाज की चिरपरिचित सांस्कारिक दृष्टि से अस्वाभाविक-सा हो गया है। इसी कारण, हम 'पंचवटी' मे सीता और लक्ष्मण के हास-परिहास की अपेक्षा 'साकेत' में उर्म्मिला और लक्ष्मण के मनोहर परिहास

को अधिक प्रेम से ग्रहण कर लेते हैं। कारण, वह नवदम्पति का आमोद-प्रमोद है, उसमें माधुर्य्य भाव की अभिन्नता है। इधर सीता और लक्ष्मण के बीच तो सेव्य और सेवक भाव की ही अनन्यता चली आ रही है।

किन्तु, कला कभी-कभी लोक-रुचि का बन्धन स्वीकार नहीं करती। रामायण के जो लक्ष्मण राम के सामने अत्यन्त प्रणत हैं वही उनके सामने चित्रकूट में कितने क्रुद्ध हो जाते हैं, भरत के आगमन का आभास पाकर। आखिर देवता भी तो एक परम मनुष्य ही हैं। कलाकार मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्तियों की कहाँ तक अवहेलना कर सकता है। वह तो ंक के भीतर ही पंकज की अवतारणा करता है—लोक के मानसरोवर के भीतर ही अपनी मूल मनोवृत्तियों को स्थित कर मानव-जीवन का पुष्प आदर्श के उर्ध्वलोक की ओर उन्मुख होता है।

'पंचवटी' मे यत्र-तत्र, प्रकृति तथा मानवी सौन्दर्य्य के रूप-चित्र अच्छे बन पड़े हैं। भाषा सुललित है। गुप्तजी सरल प्रकृत, जीवन के मनोभिलाषी हैं, इसका परिचय 'पंचवटी', 'साकेत' तथा उनकी अन्यान्य कविताओं में मिलता है। इस मनोभिलाष की एक सुन्दर अभिव्यक्ति 'झनकार' की इन पंक्तियों में भी है—

"यही होता हे जगदाधार!
छोटा-सा घर-आँगन होता इतना ही परिवार
छोटा खेत द्वार पर होता स्वजनों का समवाय
थोड़ा-सा व्यय होता मेरा थोड़ी-सी ही आय

घर ही गाँव, गाँव ही मेरा होता सब संसार
यही होता है जगदाधार !

कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम
होता नहीं भले ही तू भी रहता केवल नाम
दया-धर्म होता बस घट में जिसपर तेरा प्यार
यही होता है जगदाधार !

गाता हुआ गीत ऐसे ही रहता मैं स्वच्छन्द
तू भी जिन्हें स्वर्ग में सुनकर पाता परमानन्द
होते यत्र न तत्र और ये आयुध यान अपार
यही होता है जगदाधार !

होता नहीं क्रान्ति कोलाहल शांति खेलती आप
जैसा आता बस वैसा ही जाता मैं चुपचाप
स्वजनों में ही चर्चा छिड़ती सो भी दिन दो चार
यही होता है जगदाधार !

गुप्तजी की अन्यान्य मुक्तक कविताओं मे प्रारंभ की कुछ पंक्तियाँ सूत्र-रूप में बड़ी सुन्दर बन पड़ती हैं ; परन्तु उसके आगे मानो वे उन्हीं पंक्तियों का विश्लेषण या व्याख्या करने लगते हैं, मानो एक स्वर की टेक को ही अन्तरा मे बजाते हैं।

उनकी इस प्रकार की कविताओं में ऐसा जान पड़ता है कि उनके भाव मानो निरवलम्ब हो रहे हैं, वे मानो आधार ढूँढ़ रहे हैं, और गुप्तजी को वह आधार प्राप्त होता है, प्रबन्ध एवं खण्ड-

काव्यों में, जहाँ कथा-वस्तु उनके भीतर कवित्त्व की उद्भावना कर देती है।

मुक्तक कविताओं के बाद, अपने जिस खण्ड-काव्य-द्वारा गुप्तजी प्रथम आदृत हुए, वह है उनका वीर और करुण-रसपूर्ण 'जयद्रथ-वध।' इस खण्ड-काव्य के आगमन के साथ ही खड़ी बोली में खण्ड-काव्यों की परिपाटी-सी चल निकली।

'साकेत' और 'यशोधरा' आपके साहित्यिक जीवन के उत्तर काल के महत्त्वपूर्ण काव्य हैं। हम पहले कह चुके हैं कि प्रबन्ध-काव्यों मे कवि को एक साथ ही कवि, नाटककार और उपन्यास-कार की समष्टि शक्ति को लेकर अवतीर्ण होना पड़ता है, गुप्तजी के 'साकेत' मे हमे इस व्यापक साहित्यिक क्षमता का अच्छा परिचय मिलता है।

'साकेत' में भाव-चित्र भी प्रचुर मात्रा मे हैं; ये चित्र हैं—मनोवृत्तियो के, परिस्थितियो के, दृश्यों के, छबियो के, स्वरों के।

रामचरितमानस में जो नारी-पात्र मूक हैं, 'साकेत' मे इन्हे भी वाणी मिल गयी है। वे अपने सुख-दुख मे, एक से अनेक होकर एक दूसरे मे खोई-खोई-सी जा रही हैं।

माताओं के चरित्र 'साकेत' मे अपनी-अपनी सन्तानों के ही योग्य हैं। कौशिल्या का मातृ-हृदय यद्यपि प्रारंभ में राम की तरह धीर नहीं, वे उन्हे वन न जाने देने के लिये कैकेयी से भिक्षा माँगना चाहती थीं; किन्तु दशरथ ने तो बिना कैकेयी की अनुमति लिये ही सुमन्त को राम को लौटा लाने को भेज दिया था। माता-

पिता का हृदय ही तो ठहरा! परन्तु, सर्वांशत: कौशिल्या राम की तरह ही सरल शान्तिप्रिय है। सुमित्रा लक्ष्मण की तरह ही तेजस्विनी और स्वाभिमानिनी!

कवि ने दो नयी उद्भावनाएँ की है—एक तो चिरलांछिता कैकेयी को मानवी सहानुभूति प्रदान की है, दूसरे चिरउपेक्षिता उर्म्मिला को विस्मृति के अन्धकार से अपनी प्रतिभा के प्रकाश मे ला खड़ा किया है।

कैकेयी को 'साकेत' के कवि ने मानवी सहानुभूति ही नही प्रदान की है, बल्कि उस राजरानी का गौरवपूर्ण मस्तक कही भी अवनत नहीं होने दिया है—न अयोध्या के राजप्रासाद में, न चित्रकूट की राजसभा मे। भरी राजसभा मे, पश्चात्ताप की आग मे तपे हुए स्वर्ण की भाँति निष्कलुष होकर कैकेयी कहती है—

हा! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी?
हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा?
वैतरणी-सी हैं आज जाह्नवी वरुणा!!
सह सकती हूँ चिर नरक सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी!

उसके इस कथन मे कितना स्वाभिमान है। उसका स्वाभिमान उस राजरानी के गौरव के अनुरूप ही है—जब अपराध करने मे ही उसका मस्तक नीचे नहीं झुका, तब उसके प्रायश्चित्त में ही वह क्यों नीचे झूकेगा।

अपराध करने के लिये पृथ्वी पर स्वर्ग के देवता नहीं आते; बल्कि, पृथ्वी का मनुष्य ही अपराध करता है, भूल करता है। मनुष्य का मनुष्यत्व इसीमे है कि वह अपनी भूल को समझ जाय। 'साकेत' की कैकेयी ऐसी ही मनुष्यता की एक पूर्ण प्रतिमा है। अपनी भूल को समझकर ही तो वह कहती है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म मे सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा।'

परन्तु, प्रभु की आँखे उस 'महास्वार्थिनी' को पहचान लेती हैं और तभी वे बोल उठते हैं—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"

इसके बाद—पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

इसी भाँति 'साकेत' के कवि ने कैकेयी के सम्बन्ध मे हमारे चिर परिचित दृष्टिकोण को बदल दिया है। 'साकेत' की कैकेयी के प्रति हमे घृणा नही होती, बल्कि हृदय के मन्दिर मे हम उस ममतामयी मा का अपने अश्रुओ से अभिषेक करने लगते हैं।

रघुकुल के नारी-चित्रों मे सीता के बाद सबसे अधिक हृदय-द्रावक चित्र है उर्म्मिला का। सीता के बाद इसलिये कि वे ही एक ऐसी तपस्विनी हैं जो चिरदु:खिनी रही—वेदना की कठोर

भूमि से उनका जन्म हुआ था और वेदना की कठोर भूमि में ही वे समा गयीं। अयोध्या की अन्य राज-वधुओं का सुहाग फिर लौटा; परन्तु सीता अपना सुहाग फिर न मना सकी।

हाँ, उर्म्मिला का सुहाग भी, अपनी दोनों बहनो, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति, की भाँति लौट आया था; परन्तु उस सुहाग के स्वागत के लिये उसे अपनी उन दो बहनों की अपेक्षा अधिक तपस्या करनी पड़ी थी। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति की अनुराग-भरी आँखों के सम्मुख भरत और शत्रुघ्न साक्षात थे; किन्तु उस विरहिणी उर्म्मिला के वे नयन-मनोरम लक्ष्मण न जाने कितनी दूर देश में उसके दृगों को सूना किये हुए थे, जिनसे बिदा के समय छठे सर्ग में उसने कहा था—

"आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो फिर बस मैं पा चुकी सभी।"

परन्तु, उर्म्मिला अपने प्रिय को स्मृति-जन्य वेदना भी नहीं देना चाहती। कहती है—

"स्वार्थी ये लोचन नीर नहीं"

अतएव—"मुझे भूलकर ही त्रिभुवन में विचरें मेरे नाथ,
परन्तु मुझे न भूले उनका ध्यान"

उर्म्मिला के साथ ही तपस्विनी उमा का भी स्मरण आ ही जाता है; किन्तु 'उर्म्मिला' और 'उमा' में समता ही कितनी। उमा

ने अखण्ड तपस्या करके अचल सुहाग पाया था ; उर्म्मिला ने अपने अचल सुहाग को ही अखण्ड तपस्या बना दिया। चौदह वर्ष की प्रखर तपस्या के बाद जब उसने अपने देवता को पुनः पाया, तब उसके ऐहिक जीवन मे रह ही क्या गया था ? केवल दो अश्रुभरी आँखे ही न ! वे पानी में मछली-सी आँखें ही मानो कहती हैं—

"पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मै ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि, पाऊँगी मैं ?
"विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ।
मुझे और कुछ नहीं चाहिये, पद-रज धोऊँ।"

मिलन के आनन्द-समारोह मे इस अश्रु-अभिषेक का कारण पूछने पर वह सखी से कहती है—

"रवि को पाकर पुनः पद्मिनी खिल जाती है।
पर वह हिमकण विना कहाँ शोभा पाती है॥"

चौदह वर्षों के दीर्घ विरह के बाद, उन दो प्राणों के पुनः मिलने पर कवि ने वह दृश्य कितना मर्म्मस्पर्शी बना दिया है—

"लेकर मानो विश्व-विरह उस अंतःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।
"नाथ, नाथ, क्या तुम्हे सत्य ही मैंने पाया ?"
"प्रिये, प्रिये, हाँ आज—आज ही—वह दिन आया।"

'साकेत' मे विरहिणी उर्म्मिला को नवम और दशम सर्ग में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। नवम सर्ग में उर्म्मिला के जो

विरहोद्गार दिये गये हैं, उनमे कवि ने अपनी एक मनोवैज्ञानिक सूझ का सुन्दर परिचय दिया है—विरह की विक्षिप्त दशा में हृदय के जो व्यथित भाव बाहर आते हैं, वे टूटी हुई रागिनी की भाँति छिन्न-भिन्न होते हैं—एक संपूर्ण उद्गार के रूप में नहीं, बल्कि वे अलग-अलग गानों में भिन्न-भिन्न मन:स्थितियो के द्योतक होते हैं। और, ऐसी ही मन:स्थितियों के मुक्तक गान गुप्तजी ने इस सपूर्ण सर्ग में एकत्र कर दिये हैं। किसी-किसी गीत मे भाव सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हैं; यथा—

"काली-काली कोइल बोली—
होली—होली—होली!
हँसकर लाल-लाल होठों पर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड प्रकृति की पीली-पीली चोली!
होली—होली—होली!
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखिया खोली,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली
होली—होली—होली!
रागी फूलों ने पराग से भर ली अपनी झोली,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट में घोली।
होली—होली—होली!
ऋतु ने रवि-शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली,
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन-भावना भोली।
होली—होली—होली!

गूँज उठी खिलती कलियों पर उड़ अलियों की टोली,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।
होली—होली—होली !"

किन्तु, अधिकांश गीतों में उस विरहिणी के सहज उद्‌गार की अपेक्षा सूक्तियों की ही प्रचुरता है। उनमे आँसुओ का सजल स्रोत नहीं, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि आँसू कपोलों पर आने के पहले ही सूख गये हैं। हाँ, साकेत के अष्टम सर्ग में नवम सर्ग की अपेक्षा अधिक रस-स्निग्धता है, जब कि वैदेही गाती हैं—

"मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।"

कवि ने उर्म्मिला को विरहिणी वधू के अतिरिक्त एक और भी रूप में अवतरित किया है—लंका से राम की विपत्ति का समाचार जानकर जब अयोध्या का राज-समाज उनके सहायतार्थ सेना से सुसज्जित होना चाहता है, तब उर्म्मिला भी वीर भाव से उठ खड़ी होती है। इस प्रकार वह हमे 'मेघनाद-वध' की प्रमीला की याद दिला देती है।

'यशोधरा' भी उर्म्मिला की तरह ही विरह-विधुरा है। दोनों ही अपने-अपने विरह मे इस भावना से सन्तुष्ट हैं कि उनके प्रियतम किसी महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही प्रवासी हुए हैं। इस प्रकार दोनों ने ही प्रेम के सम्मुख कर्त्तव्य को ही महत्त्व प्रदान किया है। किन्तु, उर्म्मिला यदि अनुरागिनी विरहिणी है तो यशोधरा मानिनी वियोगिनी। यशोधरा को इस बात की बड़ी

कलक है कि उसके प्रियतम उससे बिना कुछ कहे ही चले गये ; इसीलिये उसके हृदय में यह हूक उठती है—

"सखि वे मुझसे कहकर जाते !"

अतएव, दीर्घ प्रवास के बाद बुद्ध के लौट आने पर भी यशोधरा ने अपने मान को नहीं छोड़ा, उर्म्मिला की तरह ललककर उसने आँसुओं से प्रिय का स्वागत नहीं किया, परन्तु स्वयं त्यागी बुद्ध को ही उस अनुरागिनी तक खिच आना पड़ा।

लक्ष्मण के वियोग में उर्म्मिला के लिये सहचरी थी, एकमात्र उनकी स्मृति। किन्तु, यशोधरा उससे अधिक बड़भागिन थी, जिसकी गोद मे भगवान की सजीव स्मृति शिशु बनकर खेल रही थी। 'यशोधरा के ही शब्दो में—

"मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल !
क्या है अजन अंगराग, जब मिली विभूति विशाल !"

परन्तु, जीवन के अन्त तक उसे अपनी इसी 'विभूति-विशाल' से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा, उस वैरागी प्रियतम का प्रणय-राग उसे फिर न मिल सका, जब कि उर्म्मिला को उसके प्रियतम का प्रत्यक्ष अनुराग पुन. सुलभ हुआ। फिर भी उर्म्मिला और यशोधरा ये दोनो ऐसी वधुएँ हैं, जिनका सुहाग आत्मवेदना की दीपशिखा से ही चिर द्युतिमान है।

'यशोधरा' के विरहोद्‌गार में कवि उर्म्मिला के अनेक गानों से अधिक सफल हुआ है। कहीं-कहीं बड़े कोमल भाव हैं ; यथा—

"फूलों पर पद रख, कूलों पर रच लहरों से रास,
मन्द पवन के स्यन्दन पर चढ बढ आया सविलास ।
भाग्य ने अवसर पाया री !
मरण सुन्दर बन आया री !

राहुल के मुख से कहीं-कहीं शिशु-सुलभ भोली बातें भी बड़े स्वाभाविक ढंग से कहलायी गयी हैं ; कहीं-कही ज्ञान-गंभीर बातें भी जो कदाचित् आलोचकों को अस्वाभाविक जान पड़ें। परन्तु, आखिर है तो वह बुद्ध का ही शिशु न !

गुप्तजी ने जितने प्रकार के छोटे-बड़े छन्द लिखे हैं, खड़ी बोली की वर्त्तमान कविता में कदाचित् उतने किसीने भी नहीं लिखे। छोटे से छोटे छन्द मे भी आपकी लेखनी का प्राञ्जल प्रवाह बना रहता है। इसके साथ ही आपकी विशेषता है—अन्त्यानुप्रासों पर सुन्दर अधिकार। परन्तु, जहाँ आप अपनी अधिकांश पंक्तियों में बड़े स्वच्छ अन्त्यानुप्रासों की सृष्टि करते हैं, वहाँ कभी-कभी तुकों की अति-सी भी कर देते हैं।

हर्ष है कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग ने 'साकेत' को अपने ५००) के पुरस्कार से पुरस्कृत किया और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने मंगला प्रसाद-पारितोषिक से।

आपका जन्म सं० १६४३ में चिरगाँव ( झाँसी ) में हुआ। कविता लिखने-पढ़ने की रुचि बचपन से ही है। जिस प्रकार गुप्तजी की कविताओं पर देश-काल की छाप है; उसी प्रकार

उनकी वेश-भूषा पर भी। दुबले-पतले शरीर पर खादी की सीधी-सादी देशी पोशाक और मस्तक पर बुन्देलखण्डी पगड़ी।

गुप्तजी के अनुज श्री सियारामशरणजी भी वर्त्तमान हिन्दी कविता के एक परिष्कृत कवि हैं। आपने कविताएँ भी लिखी हैं और उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ भी। अपनी कृतियों में आप करुणा-रस की अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिकता से करते हैं।

---

# जयशंकर 'प्रसाद'

"पथिक, प्रेम की राह अनोखी,
भूल-भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो,
नीचे काँटे बिछे हुए।"

सम्वत् १९७० मे 'प्रसाद' जी अपने 'प्रेम-पथिक' नामक अतुकान्त प्रेम-काव्य-द्वारा हृदय की कुछ ऐसी ही कोमल पंक्तियाँ लेकर उस समय के साहित्यिक नवयुवकों में लोकप्रिय हो गये थे। तब से अब तक आपने कितनी ही कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास लिखे हैं। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ से ही आपने एक साथ इन विभिन्न प्रकार की कृतियों को लेकर हिन्दी के उस नवोत्थित बाल्ययुग मे पदार्पण किया था, और आज इस विकसित युग मे आपकी इन बहुमुखी कृतियों की एक बड़ी संख्या हमारे अध्ययन की प्रचुर सामग्री बन गयी है।

'प्रसाद' की प्रारंभिक कृतियाँ जितनी ही प्रसादपूर्ण हैं, वर्त्तमान कृतियाँ उतनी ही गहन है। पहली कृतियाँ यदि एक सरल शिशु की भाँति सहज सुस्पष्ट हैं तो तात्कालिक कृतियाँ प्रौढ़ हृदय की भाँति दुर्भेद्य और रहस्यमय।

आपकी प्रारंभिक कृतियो में प्राचीनता और नवीनता, दोनों का एकत्र समावेश है—ऐसा जान पड़ता है कि उनकी साहित्यिक प्रगति का एक पग प्राचीन सीमा की पगडंडी पर है तो दूसरा पग नवीन राजमार्ग पर अग्रसर होने को उद्यत है। और, यह दूसरा पग ही उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला गया।

प्रसादजी की प्रारंभिक कविताएँ ब्रजभाषा मे हैं। अति प्रारम्भिक कविताओं के लिये आपने अपना उपनाम 'कलाधर' भी रखा था। 'प्रेम-पथिक' भी पहले पहल ब्रजभाषा में ही लिखा गया था। परन्तु, प्रसादजी बहुत दिनो तक ब्रजभाषा में कविताएँ नहीं लिख सके, द्विवेदीजी के शुभ उद्योग से खड़ी बोली की आवाज ऊँची होने पर प्रसादजी ने भी अपने भावों को खड़ी बोली में व्यक्त करना प्रारंभ किया। परतु, आपकी खड़ी बोली की प्रारंभिक रचनाएँ भी द्विवेदी-युग के प्रभाव से बाहर अपने स्वतंत्र रूप में ही लिखी गयीं और वे 'सरस्वती' की अपेक्षा काशी से प्रकाशित होनेवाले तत्कालीन मासिक पत्र 'इन्दु' द्वारा पाठकों के सामने आती रहीं। 'चित्राधार' जो कि आपकी विभिन्न प्रकार की गद्यपद्यमयी रचनाओं का आरभिक सग्रह है, उसे देखने पर आपके साहित्यिक क्रम-विकास का परिचय मिलता है।

प्रारंभ में आपने ब्रजभाषा की जो कविताएँ लिखी थीं, उनमे भाषा का प्राचीन आच्छादन होने पर भी भावों में नवीनता लाने का प्रयत्न लक्षित है। आपकी तब और अब की अधिकांश रचनाओं में प्रेम प्रधान विषय है। शृंगार-रस के अन्तर्गत प्रेम,

व्रजभाषा के पिछले तीन-चार सौ वर्षों के जीवन में एक प्रमुख विपय रहा है, उस युग का प्रकृति-वर्णन भी शृंगार का एक उद्दीपनमात्र था। प्रसादजी ने अपनी व्रजभाषा की कविताओं में प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे नहीं, बल्कि आलम्बन के रूप मे ग्रहण करने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया। रूढ़िगत परम्परा से आक्रान्त उस साहित्यिक युग में भी उनका यह प्रयत्न क्योंकर संम्भव हुआ ?—इसका कारण है प्रसादजी का संस्कृत-साहित्य का अपनी दृष्टि से अध्ययन। प्रसादजी को बचपन से ही घरेलू तौर पर संकृत की विशेष शिक्षा प्राप्त हुई है। संस्कृत काव्यो में शृंगार के उद्दीपन से परे, अनेक कवियों ने, प्रकृति के कुछ, स्वतन्त्र सचेतन चित्र भी बड़े अभिराम रूप मे उपस्थित किये हैं; यद्यपि सस्कृत में भी प्राकृतिक उद्दीपनों का अभाव नहीं। प्रसाद ने अपनी मार्जित रुचि के कारण संस्कृत की उन विशेषताओं को ही ग्रहण किया, जिनका व्रजभाषा की कविता म प्रायः अभाव था। इसके अतिरिक्त, संस्कृत के व्यापक काव्य-साहित्य मे ध्वन्यात्मक शैली का* ( जो आज नवीन हिन्दी-कविता की भी एक विशेष शैली है ), प्राचुर्य्य है। प्रसाद ने उसी संस्कृत-साहित्य के भीतर से एक सुसंस्कृत प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी-कविता मे अपनी नूतन भावाभिव्यक्ति की।

* काव्य में ध्वनि का वही स्थान है, जो सौन्दर्य्य में लावण्य का। लावण्य, शरीर में सौन्दर्य्य के जिस सूक्ष्म संकेत का काम करता है, वही सुन्दर सकेत ध्वनि-द्वारा काव्य में प्रकट होता है।—ले०

न केवल कविता का, वल्कि आपके नाटकों का भी विकास संस्कृत-साहित्य द्वारा हुआ है। प्रसाद के प्रारंभिक नाटक— 'सज्जन' और 'विशाख' मे कोई विशेष नवीनता नहीं है। नाटक-रचना की जो प्रणाली संस्कृत से हिन्दी में 'भारतेन्दु' इत्यादि स्वर्गीय साहित्यिकों द्वारा प्रचलित थी, उसी परिपाटी पर प्रारभ में प्रसादजी भी चले। इसलिये, हम उनकी प्रारंभिक नाट्य-कृतियों के प्रथम संस्करण में देख सकते हैं कि उन्होंने भी सूत्रधार की अवतारणा कर अपने नाटक और नाटककार की विज्ञप्ति करायी है। इसके वाद, उन्होंने अपने नाटकों मे कई प्राचीन परिपाटियों को छोड़कर नाट्यकला के सामयिक विकास का साथ दिया। उनके इस विकास में उन्हे बँगला का सहयोग प्राप्त हुआ, अँगरेजी का नहीं। हाँ, संस्कृत का संस्कार होने के कारण उनके नाटकों के कथानक प्राचीन भारतीय उपाख्यानों की पद्धति पर चले हैं, और उनकी कई कहानियो में भी हम उपाख्यान की ऐतिहासिक प्राचीनता को देख सकते हैं। प्रसाद के नाटकों में प्राचीन युग की संस्कृति का प्रवाह, उसकी वेशभूषा और भाषा का आभास तो है, किन्तु नाटकों के दृष्य-निर्देश में वह विस्तृत विवरण प्राप्त नही होता जो आजकल पश्चिमी नाटको के प्रभाव से हिन्दी मे आ रहा है। इसका कारण यह है कि प्रसादजी नाटकों में बँगला की जिस सामयिक नाट्य-कला से प्रारंभ में प्रेरित हुए, उस समय तक उसका उसमें आरंभ नहीं हुआ था। यही कारण है कि रंगमच पर अपने युग के दृश्य

को विशेष रूप-रंग देने में प्रसाद के नाटकों से पर्य्याप्त सहायता नहीं प्राप्त होती। उसकी पूर्त्ति रंगमंच के संयोजकों को अपनी दूरदर्शिता से ही करनी पड़ती है। इधर हाल मे प्रसादजी के जो दो नाटक ('एक घूँट' और 'ध्रुवस्वामिनी') प्रकाशित हुए हैं, उनमे वे पश्चिम के विस्तृत दृश्य-निर्देश की आवश्यकता को कुछ-कुछ अनुभव करते हुए-से जान पड़ते हैं।

प्रसाद की कविताओं के तीन संग्रह उनकी रचना-क्रम से इस प्रकार हैं—(१) काननकुसुम (सं० १६६६), (२) झरना ('काननकुसुम' के बाद), लहर (सन् ३५)।

'झरना' के नये संस्करण (सन् ३५) मे आपकी पहले की लिखी तथा कुछ उसके बाद की लिखी कविताओं का संग्रह है। उसमे आपने जिस नवीन दृष्टिकोण से भावाभिव्यक्ति की है, उसका प्रभाव उस समय के अनेक नवयुवक कवियों पर पड़ा था।

किन्तु 'प्रसाद' के 'झरना' से जो कवि प्रेरित हुए थे वे विशेष कवित्त्व न दे सके। छायावाद की नई कविता का विशेष समारोह तो सन् १६२४ से प्रारम्भ होता है—पन्त, निराला, महादेवी की कविताओं से। इन्हींकी लगन से द्विवेदी-युग के बाद की खड़ी बोली की कविता १५-२० वर्षों मे ही इतनी समृद्ध हुई है। ये कवि प्रसाद की रचनाओं से प्रेरित होकर नहीं अग्रसर हुए थे, बल्कि रवि बाबू की साहित्यिक लोक-प्रियता से उनकी काव्य-कला का अन्त:प्रान्तीय साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसीसे

न केवल उक्त कवि, बल्कि प्रसादजी भी स्फूर्त हुए थे। अपनी कुछ कविताओं में गुप्तजी भी।

प्रारम्भ में बँगला (रवि बाबू) से प्रेरणा पाकर भी यह नवीन साहित्य अपनी प्रेरणा में वहीं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसके आगे, जैसे बँगला अंग्रेजी के माध्यम से विश्व-साहित्य से लाभान्वित हुई उसी प्रकार हिन्दी भी। और आज तो वह किसी एक भाषा से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवी हलचलों से अपना साहित्य-विस्तार कर रही है।

प्रसादजी, पन्त, निराला, महादेवी से पहले जरूर आ चुके थे, और जिस गति से द्विवेदी-युग का साहित्य चल रहा था उस हिसाब से उनका साहित्य अपेक्षाकृत नवीन लगता था। इस प्रकार जब वे नव-प्रसिद्ध हो चुके थे, तब पन्त और निराला अप्रकाश्य रूप से अपनी भी एक काव्य-रुचि का विकास कर रहे थे। सन् २० तक, जब कि ये अपने विकास में लगे हुए थे, द्विवेदी-युग का प्राधान्य था। सन् २० के बाद से ये कवि प्रकाशमान हुए। सन् २४ तक इनकी इतनी काव्यकृतियाँ प्रकाशित हुईं कि द्विवेदी-युग के बाद की पीढ़ी का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ। इस समय द्विवेदी-युग का काव्य गौण हो गया और छायावाद की कविता प्रधान। उस समय काव्य मे जो भाव, भाषा और शैली बनी उसका इतना प्रचार बढ़ा कि उससे भिन्न कविता और कुछ हो ही नहीं सकती, नवयुवक कवियों मे यह धारणा बद्धमूल हो गयी।

हिन्दी मे छायावाद का यह साहित्य सन् १४ के महायुद्ध के बाद का साहित्य है। महायुद्ध के बाद का संसार अपने विकट पार्थिव प्रयत्नों की विफलता से क्लान्त था। उसमें कुछ आध्यात्मक भाव-क्षुधा जगी। इसी वातावरण में रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' की लोकप्रियता बढ़ी। इसके अतिरिक्त, नोबुल-पुरस्कारों मे शान्ति-पुरस्कार का भी महत्व बढ़ा। किन्तु यह सब कुछ उस परिश्रान्त संसार का अकाल सन्यासमात्र था। उस महायुद्ध की समाप्ति आन्तरिक सद्भावनाओं के आधार पर न होकर राजनीतिक प्रभुता के आधार पर हुई थी। विश्वबन्धुत्व के बजाय विश्व वैषम्य बना हुआ था। प्रभुत्व की जिस आसुरी लिप्सा के कारण वह महायुद्ध हुआ था, उस हिंस्र लिप्सा के रक्तबीज निर्मूल नहीं हुए थे। फलतः फिर शान्ति-भङ्ग हुआ। विषम पार्थिव समस्याओं मे जीवन की निश्चिन्तता खो गयी। मनुष्य अपने अस्तित्व के लिये विकल हो उठा।

ऐसे समय मे जीवन के नव-निर्माण के लिये मानवता के जो प्रयत्न चल पड़े, उनकी ओर स्वभावत· साहित्य का भी ध्यान चला गया। इस अशान्ति-काल की कविता भी छायावाद से अब एक नवीन यथार्थवाद की ओर चली गयी! इस नवीन दिशा में न केवल साहित्यिक क्षेत्र से बल्कि राजनीतिक क्षेत्र से भी लेखक आ रहे हैं। अतएव, कल तक जब कि छायावाद से आगे के कवि और काव्य की कोई कल्पना भी नहीं थी वहाँ अब फिर साहित्य का एक नवीन युग प्रकट हो रहा है। साहित्य का दायरा

बढ़ रहा है। किन्तु छायावाद अब भी असंगत नहीं लगता है, कारण, पश्चिम मे जिस प्रकार मानवता के नवीन राजनीतिक प्रयत्न चल रहे हैं, उसी प्रकार हमारे यहाँ भी गान्धीवाद के रूप में एक आत्मिक प्रयत्न जागरूक है; गान्धीवाद के वातावरण मे छायावाद [ जो सूक्ष्म मनस्तत्त्वों पर अवलम्बित है ] आउट-ऑफ-डेट नही लगता। जब सन् २० मे राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा, उस समय छायावाद हमारे साहित्य मे अपना विकास कर रहा था। उन राष्ट्रीय उद्‌घोषों में भी छायावाद गान्धीवाद के वातावरण के कारण ही असंगत नहीं लगा था। जीवन के बाह्य प्रयत्नों मे, जब तक हम अपने आन्तरिक जगत से जीवित है तब तक साहित्य में छायावाद और राजनीति मे गान्धीवाद मर नहीं सकते। बाह्य प्रयत्न हमे जीवन के आयतन के लिये नवीन समाज दे सकते हैं, किन्तु साँस तो हम भीतर से ही ले सकते हैं। राजनीति मे गान्धीवाद और साहित्य मे छायावाद वही भीतर (अभ्यन्तर) की साँस हैं। साहित्य और राजनीति में मानवता के बाह्य प्रगतिशील प्रयत्नों के हम विरोधी नहीं, क्योंकि उनके बिना हम साँस ही नहीं ले सकते, किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि मनुष्य अपना मूल अस्तित्व बाहर नहीं, भीतर बनाये हुए है। मनुष्य अपने मे जागरूक रह सके, इसीलिये बाह्य प्रयत्नों में गान्धीवाद और छायावाद की आत्मा भी चाहिये।

तो हम फिर अपने विषय पर आवें।

पन्त, प्रसाद, निराला, तीनो नवीन हिन्दी-कविता के कवि होते हुए भी, पन्त की अपेक्षा निराला और प्रसाद मे द्विवेदी-युग का काव्य-संस्कार भी स्पष्ट है। अर्थात् वे नवीन होते हुए भी कुछ प्राचीन हैं। काव्य-कला मे गुप्त जी से कुछ नवीन होकर भी काव्य के निखार मे सीमित हैं। यों कहे, द्विवेदी-युग की कविता गुप्तजी की रचनाओ में मूर्त्त हुई, प्रसाद और निराला ने उसे कुछ नवीन सौन्दर्य दिया, पन्त ने उसे सर्वथा नूतन रूप दे दिया।

खड़ी बोली की कविता के सामने निर्माण के तीन प्रश्न थे—(१) संस्कृति, (२) कला, (३) सामयिक देश-काल। गुप्तजी की भाँति प्रसाद और निराला ने इन तीनों को अपनाया। किन्तु छायावाद की कविता मुख्यतः संस्कृति और कला को ही लेकर चली। पन्त ने छायावाद की कविता मे कला का परिपूर्ण विकास किया, महादेवी ने कला के माध्यम से संस्कृति का। गुप्त, प्रसाद और निराला की कविताओ मे जो संस्कृति है उसमे एकदेशीय प्रतिपादन है, महादेवी की काव्य-संस्कृति मे आत्म-चिन्तन।

जिन सूक्ष्म भावनाओं मे छायावाद की कविता का जन्म हुआ है, उसे देखते उसमे स्थूल देश-काल को स्थान नहीं मिला। आत्मा शरीर में समा सकती है, शरीर आत्मा में नहीं। यही हाल छायावाद और देश-काल का है। हाँ, 'साकेत' मे गुप्तजी ने संस्कृति के माध्यम से छायावाद को देश-काल से मिला दिया है, जैसे राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यों मे गान्धीवाद मिल गया है। किन्तु

राष्ट्र के भीतर जब एक राजनीतिक रोमान्टिसिज्म आ गया तब गुप्तजी 'साकेत' से आगे नही जा सके। इस ओर प्रगतिशील कवि पन्त बढ़े। पन्त ने पहले केवल एक विकसित कला दी थी, अब उन्होंने एक विकिसित देश-काल दिया। 'साकेत' द्वारा छायावाद जिस प्रकार गान्धी-युग के देश-काल से जा मिला था, उसी प्रकार इस विकसित देश-काल मे छायावाद क्यों कर जा मिलेगा, यह भविष्य के साहित्य में अदृश्य है। अभी तो छायावाद अपनी मुक्तक रचनाओं की भाँति ही देश-काल से पृथक है। अभी तक सस्कृति और देश-काल का जो प्रतिनिधित्त्व गुप्तजी अकेले कह रहे थे, वह वर्त्तमान हिन्दी-कविता में द्विभक्त हो गया है—महादेवीजी संस्कृति की प्रतिनिधि हैं, पन्तजी प्रगति के प्रतिनिधि। और कला?—जहाँ सस्कृति है, वहीं कला है। जब प्रगति के भीतर संस्कृति ( साधना ) अपना स्थान वनायेगी तभी वह भी कला की सुषमा से आभावान होगी। अभी तो प्रगति केवल प्रगति है, जीवन का मूर्त्तरूप नहीं।

दो दशाब्दी ( सन् २० तक ) द्विवेदी-युग के काव्य का प्राधान्य रहा और सन् ४० तक ( दो दशाब्दी ) छायावाद-काव्य का। जिस प्रकार द्विवेदी-युग मे सन् १४ के महायुद्ध के बाद, छायावाद अज्ञात जन्म ले रहा था, उसी प्रकार इस छायावाद-युग मे उक्त प्रगतिशील युग जन्म ले रहा है। आगे यह युग जब तरुण होगा तब एक अन्य युग का उद्भव भी संभव है, जिसमे छायावाद और प्रगतिशीलता दोनों का संयोजन होगा।

अब हम फिर पीछे मुड़कर देखे। सन २४ से जब छाया वाद के नवीन प्रमुख कवियों का प्रभाव बढ़ा और उनके प्रभाव से नई साहित्यिक पीढ़ी की भाव-जिज्ञासा बढ़ी, तब प्रसादजी को भी अपने कला-विस्तार का उचित वातावरण मिला। इसी समय से उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं। इस प्रकार नवीन साहित्य-कला का उत्थान काल सन् २४ मे ही सामने आता है द्विवेदी-युग मे नवीन साहित्य की एकान्त-साधना करनेवाले कलाकारों का यह संगम-काल है।

अपने साहित्यिक जीवन के पूर्व-काल में भावाभिव्यक्ति की नवीन शैली के साथ ही प्रसादजी ने हिन्दी मे अतुकान्त कविता का प्रारंभ किया। 'प्रेम-पथिक' उस अतुकान्त कविता का एक उदाहरण है। यद्यपि प्रसाद के पहले भी कुछ अतुकान्त कविताएँ लिखी गयी थीं; किन्तु वे साहित्य-कला की किसी विशेष प्रेरणा से प्रेरित होकर नहीं लिखी गयी जान पड़तीं, बल्कि साहित्यिक कौतुक की उद्भावना के लिये ही हैं। उनमे भाषा और हृदय के साथ एक क्रीड़ामात्र है। वह भाव-रहित अतुकान्त बेतुका सा मालूम पड़ता है। 'प्रसाद' ने 'प्रेम-पथिक' द्वारा अतुकान्त कविता को भावात्मक बनाया, इसी कारण उनका अतुकान्त बेतुका नही मालूम पड़ता। इसकी प्रेरणा भी उन्हे संस्कृत काव्यो द्वारा प्राप्त हुई जान पड़ती है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि उन्होने भी प्रारंभ मे किसी विशेष साहित्यिक सिद्धान्त-वश अतुकान्त का आरंभ नहीं किया था, बल्कि तुकों के बहिष्कार-द्वार

भाव और छन्द को एक नवीन आवरण देने की अभिलाषा ही प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त उनका अतुकान्त किसी एक छंद में नहीं, बल्कि विभिन्न छंदों मे प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी मे अभी तक अतुकान्त कविता का विशेष चलन नहीं। जिस विशेष साहित्यिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये काव्य में अतु-कान्त की आवश्यकता है, उसकी ओर हमारे साहित्यिको का इस समय रुख नहीं है। काव्य में अतुकान्त की आवश्यकता पड़ती है गीति-नाट्य मे अथवा कथात्मक प्रबन्ध—काव्य मे; और नवीन काव्य-साहित्य मे इस कोटि की रचनाओं का अभाव ही है। प्रसाद ने वर्षों पहले 'करुणालय' नामक अतुकान्त गीति-नाट्य लिखा था। गीति-नाट्य अथवा प्रबंध-काव्य मे, अतुकान्त-द्वारा पात्रों के कथोपकथन मे दैनिक वार्तालाप के प्रवाह की-सी स्वाभा-विकता आ जाती है, जो कि तुको मे बहुत-कुछ खो सी जाती है। छोटी-छोटी मुक्तक भावपूर्ण कविताओं मे अतुकान्त की उतनी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, कारण भाव स्वभावतः कुछ संगीत अथवा झनकार चाहते हैं, जो कि उन्हें सुन्दर अन्त्यानुप्रासो-द्वारा प्राप्त होती है।

हिन्दी मे अतुकान्त छंद के दो विशेष रूप सामने है—एक गुप्तजी-द्वारा अनुवादित 'मेघनाद-वध' का घनाक्षरी से उत्पन्न मिताक्षरी छद; दूसरा प्रायः घनाक्षरी के प्रवाह के ही अनुरूप, मुक्त कवि निरालाजी का अतुकान्त मुक्त छंद।

प्रसाद और निराला के अतिरिक्त दो और कवियों ने भी

अतुकान्त छंद लिख हैं—सियारामशरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त। सियारामशरणजी का अतुकान्त निराला के अतुकान्त के उतने ही समीप है, जितना गुप्तजी की मिताक्षरी, घनाक्षरी के। पन्तजी ने अपने 'ग्रंथि' नामक प्रेम-काव्य मे जिस अतुकान्त का प्रयोग किया है, उसके सम्बन्ध मे आप 'ग्रथि' की ही भूमिका में लिखते हैं—"ग्रंथि मैंने सन् १९२० के जनवरी मास मे लिखी थी।...छंद तुकान्त नहीं। अतुकान्त का सौन्दर्य्य-स्वरूप तब मेरे हृदय मे प्रस्फुटित नहीं हो पाया था, अपने साहित्य में उन दिनों जैसा ढंग प्रचलित था, उसीके अनुरूप मैंने भी यह बेतुका लिवास पहना दिया। पर, हिन्दी मे बड़ी ही मनोहर तथा परिपूर्ण, प्रास-हीन सृष्टि हो सकती है। 'ग्रन्थि' के प्रेमियो के सम्मुख मैं भविष्य में अतुकान्त अंगों की अधिक सुगठित प्रतिमा प्रस्तुत करने की आशा रखता हूँ।" इसके साथ ही आपका यह भी विचार है कि, "हिन्दी में रोला छन्द अंत्यानुप्रास-हीन कविता के लिये विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों मे प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है; उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं।"

परन्तु, वस्तुतः अतुकान्त के लिये कौन-सा छन्द उपयुक्त हो सकता है, यह हमारे काव्य-साहित्य के लिये आज भी एक विचारणीय विषय है। इधर 'प्रसादजी' ने जो अतुकान्त कविताएँ लिखी हैं, वे घनाक्षरी छन्द के ही प्रवाह पर चली हैं। 'प्रसाद' ने अपने 'लहर' नामक कविता-संग्रह मे 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण',

'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' शीर्षक जो विस्तृत अतुकान्त कविताएँ लिखी है, वे निरालाजी के अतुकान्त मुक्त छन्द के अनुसरण हैं। 'निराला' और 'प्रसाद' के अतुकान्त मुक्त छन्दों का प्रवाह इस प्रकार एक है, कि मानो वे एक ही आत्मा से निकले हुए दो उद्‌गार हों। निरालाजी ने अपने अतुकान्त मुक्त छन्द के सम्बन्ध मे लिखा है—"नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त छंद की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छद द्वारा आ सकती है। इस छंद में Art of Reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिये इसकी उपयोगिता रगमच पर सिद्ध होती है।" पन्तजी इस कवित्त छंद को हिन्दी का औरसजात पुत्र मानते हैं और उनकी दृष्टि में यह 'संलापोचित (Colloquial) छद' है। किन्तु, गीति-नाट्य में अतुकान्त के लिये एक सलापोचित छंद की ही आवश्यकता जान पड़ती है।

पन्तजी के कथनानुसार तो रोला छंद में अतुकान्त की सुन्दर सृष्टि हो सकती है। किन्तु, कविता को तुक से अलग कर उसे अतुकान्त-द्वारा केवल एक साहित्यिक भाव-स्वतन्त्रता देना ही अभीष्ट हो तो पन्तजी का विचार अभिनन्दनीय है। किन्तु, हमारी समझ में अतुकान्त केवल भाव-स्वतन्त्रता के लिये नहीं, बल्कि उसकी सर्वोपरि आवश्यकता वाक्-स्वतन्त्रता के लिये है, जिसकी एक स्वाभाविक पूर्त्ति घनाक्षरी के आधार पर हो सकती है। यो भाव-स्वातन्त्र्य के लिये तो केवल अनुप्रास की स्वतन्त्रता ही नहीं, बल्कि छंद की स्वतन्त्रता भी उचित जान पड़ती है। अस्तु,

प्रसाद की प्रारंभिक कविताओं मे कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी। परन्तु, उनमे भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं, जितनी विषय-विन्यास की नवीनता है।

प्रसादजी मुख्यत· यौवन और प्रेम के कवि है। उनके नाटकीय गीतों मे प्रसंगानुकूल दार्शनिक भाव भी आये हैं; परन्तु वे रहस्यवादी कवि की अपेक्षा, अपनी मुक्तक कविताओं में जीवन के एक छायावादी कवि हैं। 'कानन-कुसुम' 'झरना' 'लहर' तथा अधिकांश नाटकीय कविताओं में सौन्दर्य्य और प्रेम के भाव ओत-प्रोत है। काव्य-क्षेत्र में प्रसादजी हर्ष-विषाद-युक्त मानवी मनोभावो के कवि है। वे मानवी मनोवृत्तियो से इतने आकर्षित हैं कि मनुष्य ही उनके चैतन्य की इकाई बन गया है। आपकी यौवन और प्रेम से रस-प्लुत कविता-पुस्तक 'आँसू' इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

प्रसाद की कविताओं मे सौन्दर्य्य और प्रेम के मनोवृत्यात्मक तथा वर्णनात्मक दोनों ही प्रकार के चित्र दीख पड़ते हैं। ये चित्र प्राय. प्रकृति-सौन्दर्य्य के साथ संश्लिष्ट है। उनके सौन्दर्य्य और प्रेम में ऐहिक भावना भी है और मनोवृत्तियो को ऊपर उठानेवाली बहुव्याप्त उदात्त भावनाएँ भी, उनकी ऐसी ही उदात्त भावनाओ मे रहस्यवाद का भी परिचय-मिलता है।

'लहर' मे प्रसाद की सद्य-प्रणीत काव्यकृतियाँ हैं। इन कवि-

ताओं में भाषा और भाव की प्रौढता है। 'झरना'-द्वारा प्रसाद की नूतनतम भावुकता का परिचय दुर्लभ था, अब 'लहर'-द्वारा वे पन्त और निराला की काव्यकोटि मे आ गये है। निराला के अतुकान्त मुक्त छद मे लिखी गयी कविताओ के अतिरिक्त, शेष कविताओं की शैली पन्त के 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के ढग की है। 'लहर' की कई कविताओं में 'प्रसाद' की लखनी ने बड़ी सुन्दरता से अन्तस्तूलिका का सचालन किया है।

प्रसाद ने 'लहर' में तथा अपने नाटकों मे कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं; किन्तु शुष्क राष्ट्रीयता के रूप मे नहीं बल्कि भावात्मक रूप मे।

प्रसाद की कविताओं की भाषा सस्कृत-प्राय है। भाषा मे परिष्कृति की अपेक्षा उन्होंने अपने 'मूड' की अनुकृति ही रहने दी है, यही कारण है कि उनकी भाषा कहीं तो कवित्व से सघन स्निग्ध है और कही खुरदुरी एवं गद्यमय। बहुत पहले से कविताएँ लिखने पर भी आपने कविताएँ बहुत नहीं लिखी है। इधर आप यथावकाश एक काव्य-ग्रथ * लिख रहे है, जिसमें उपनिषदों में वर्णित सृष्टि-रचना के आधार पर, मनु और इला इन्हीं दो पात्रों-द्वारा एक भावपूर्ण जीवन—आख्यान को आप ग्रथित कर रहे हैं। इस काव्य-ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने पर आपके कवित्व के अत्यधिक परिचय मिलने की आशा है। काव्य की अपेक्षा, आपने

* यह काव्य-ग्रंथ 'कामायनी' नाम से प्रकाशित हो गया है।

नाटक, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे ही प्रचुरता से भाग लिया है।

प्रसाद की कहानियों मे एक निष्फल यौवन, एक करुण प्रणय, एक दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं और इन्हीं के साथ-साथ किन्हीं सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी खींच दी जाती है। उनकी सभी कहानियो के प्लाट प्रायः एक-से ही हैं, केवल स्थान और पात्रों के नाम मे अनेकता है। उनकी कहानियों को हम एक प्रकार का प्रेमपूर्ण कथात्मक गद्य-काव्य कह सकते हैं। जिसमे घटना और चरित्र प्रधान न होकर भाव ही प्रधान है। इस भावाभिव्यक्ति के लिये वे कथा की सृष्टि गद्य-काव्य के ढंग पर कर देते हैं। उसमे कहानी उतनी ही सूक्ष्म रहती है जितनी पल्लवों मे उनकी शिराएँ, जो उनके भाव विकसित हृदय के हरित विस्तार मे ढँकी रहती हैं। और इसीलिये, यह ठीक है कि "प्रेमचन्दजी और जयशंकर 'प्रसाद' जी की आख्यायिकाओ मे एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि एक मे घटनाओ की प्रधानता रहती है और दूसरी मे भावों की।"—इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द अपनी कहानियों में सामाजिक चित्र की अवतारणा का लक्ष्य रखते हैं, तो प्रसाद मानसिक चित्र की उद्भावना करते है। एक में वस्तुकला है तो दूसरे मे ललित कला। टॉल्स्टाय और तुर्गनेव की साहित्यकला में जो अन्तर है, वही प्रेमचन्द और प्रसाद की कृतियों मे। टाल्स्टाय यदि जनता के साहित्यिक थे, तो तुर्गनेव साहित्यिकों के कलाकार।

प्रसाद की प्रारंभिक कहानियों का संग्रह ( 'छाया' ) घटना-मय है ; परन्तु इसके बाद जिस प्रकार आपकी कविताओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया, उसी प्रकार कहानियो और नाटकों में भी। 'प्रतिध्वनि' मे आपकी वर्त्तमान कथा-शैली का एक नन्हा-सा श्रीगणेश है, 'आकाश-दीप', 'आँधी' और 'इन्द्र-धनुष' आपकी वर्त्तमान कहानी-शैली के नवीनतम द्योतक हैं। अवश्य ही प्रसादजी की इन कहानियों और नाटको में भी कहीं-कहीं भावुकता का रंगीन इन्द्रजाल भी है। प्रसादजी की कहानियाँ एकांकी नाटकों की भाँति एकांगी हैं, जिनमे एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र, अथवा घटना की एक रेखा है।

प्रसाद की विस्तृत सामाजिक भावनाओं का परिचय उनके नाटकों और उपन्यासो मे मिलता है। परन्तु, उनके मूल मे उनकी भाव एवं विचार-प्रधान-कला ही अन्तर्हित रहती है। जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र मे गुप्तजी को कथा-वस्तु-द्वारा भावोद्भावना होती है, उसी प्रकार कथा-क्षेत्र मे प्रसादजी को भाव एवं विचार-द्वारा कथा-सृष्टि की स्फूर्त्ति प्राप्त होती है। इसीलिये, हम उनके नाटको में भावों और विचारों की प्रधानता पाते हैं और कथा-वस्तु को भावों और विचारों के प्रकाशन का आधार-मात्र। हाँ, यह कथा-आधार गल्पों की तरह केवल कल्पना-जन्य न होकर लोक-जीवन के भीतर से प्राप्त किया गया है ; इसीलिये उनके भावों और विचारों मे एक वास्तविकता है। उनकी कहानियो में भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति के लिये यदि उन्हे एक लघु सीमा प्राप्त

होती है, तो नाटकों और उपन्यासों में विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होता है। प्रसाद की कथा-कृतियों मे से यदि भाव और विचार हटा लिये जायँ, तो वे ऐसी जान पड़ेगी, जैसी उतरे हुए तारों की वीणा। अथवा, स्पन्दन-रहित कंकाल-जाल, या हृदय और मस्तिष्क-शून्य जीवन।

प्रसादजी के नाटकों मे जीवन-सम्बन्धी विचार-वाक्य बड़े ही मार्मिक हैं। बल्कि, यों कहना चाहिये कि वे वाक्य ही उनके नाटको मे प्राण हैं। वे जीवन-सम्बन्धी वाक्य केवल नैतिक उपदेश देने के लिये ही नहीं प्रयुक्त हुए हैं, बल्कि आन्तर्द्वन्द्वो के घात-प्रतिघात मे पात्रों के मुख से उसी प्रकार स्वयमेव निकल पड़े हैं, जैसे टाँकियो के अविराम आघात से पत्थरों के भीतर से अग्नि-स्फुलिंग निकल-निकलकर चमक पड़ते हैं। जिस समय प्रसाद के नाटको के गम्भीर पात्र जीवन की ऊँची-नीची परिस्थितियो मे पड़कर विचारपूर्ण उद्‌गार सुनाने लगते हैं, उस समय ऐसा जान पड़ता है कि हम अनुभवो की पाठशाला मे बैठे हुए पाठ ले रहे हैं।

प्रसाद के उद्‌गारात्मक वाक्यों में बहुत जोर है, जान पड़ता है मानो उत्तुङ्ग गिरि-शिखर से प्रखर प्रपात का प्रवाह गतिमान हो उठा हो। इसके विपरीत साधारण कथोपकथन में उनकी भाषा मे विशेष सौन्दर्य्य नहीं, यत्र-तत्र असगति-दोष भी आ गया है। ऐसे स्थलो पर वाक्य उस सैनिक-से जान पड़ते हैं जो वीर और गभीर तो है, किन्तु धीर नहीं, उसके पाँव उखड़े हुए-से हैं।

नाटको में भी उनकी भाषा संस्कृत-प्रधान है। शुरू से ही भावों और विचारों का ही विशेष ध्यान बना रहने के कारण आप भाषा के सौन्दर्य की ओर पर्य्याप्त ध्यान नहीं दे सके हैं। परिणामत: आपकी भाषा परिपक्व होते हुए भी सर्वत्र परिष्कृत नहीं है, दूसरे शब्दो में, वह कला के हाथो कलित नहीं।

प्रसादजी जान बूझकर अपनी भाषा को क्लिष्ट नहीं बनाते, बल्कि वह उनकी सस्कारपूर्ण स्वाभाविक शैली है। कभी-कभी साधारण बातचीत मे भी आपके मुख से साधारण जनो के सम्मुख संस्कृत शब्द स्वत: निकल पड़ते हैं।

प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं। दो-तीन नाटको को छोड़-कर, शेष नाटक बौद्ध अथवा हिन्दू-कालीन हैं। उनमें भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की अच्छी झलक देखने को मिलती है। अपने नाटकों-द्वारा उन्होने इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में ऐतिहासिक दृष्टि से वे कहाँ तक सफल हुए हैं, इसमें मतभेद हो सकता है; किन्तु साहित्य-कला मे ऐतिहासिकता का क्या स्थान है ?

प्रत्येक युग एक दूसरे युग का जन्मदाता है; इसीलिये वर्तमान को समझने के लिये हमें भूतकाल की ओर तथा भविष्य को समझने के लिये वर्तमानकाल की ओर—( जो कि भविष्य में स्वयं भूतकाल हो जायगा )—दृष्टिपात करने की आवश्यकता बनी रहती

है। इतिहास से हमे इसी दृष्टिपात के लिये एक प्रकाश मिलता है, साहित्य मे भी हम उसकी अवहेलना नहीं कर सकते।

इतिहासकार का ऐतिहासिक विवरण तो केवल निर्जीव चित्र-मात्र रहता है, साहित्यकार ही अपनी कला से उस चित्र में प्राण डाल देता है। नाटक, उपन्यास, काव्य, साहित्य के इन तीन अगों-द्वारा साहित्यकार इतिहास को एक जीते-जागते मनुष्य की भाँति ही सजीव कर देता है। और, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों मे—"काव्य मे जो भूले हमे मालूम पड़ेगीं, इतिहास में हम उनका संशोधन कर लेगे। किन्तु, जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहास ही पढ़ेगा और काव्य पढ़ने के लिये अवसर नहीं पायेगा, सम्भवत उसका भाग्य और भी मन्द है।"

साहित्यकार देश का इतिहास नहीं, बल्कि मानव-समाज और मानव-हृदय का इतिहास उपस्थित करता है। इसी दृष्टि से 'प्रसाद' ने अपने ऐतिहासिक नाटको मे हिन्दूकालीन भारत को साहित्यिक उपादान बनाया है, तथा डी० एल० राय ( द्विजेन्द्र लाल राय ) ने प्राय· मुगलकालीन भारत को अपने नाटकों का आधारस्तम्भ बनाया है। हाँ, दोनो नाटककारो ने एकाध पौराणिक और सामाजिक नाटक भी लिखे हैं, परन्तु प्रधानतः वे ऐतिहासिक नाटककार ही हैं।

प्रसाद ने एक ऐसे स्वर्ण युग को अपने नाटको का आधार बनाया है, जो भारत के ही लिये नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के

लिये सदैव आकर्षक बना रहेगा; प्राचीन होकर भी नूतन रहेगा। वह युग जितना ही यथार्थता-मय था उतना ही आदर्शपूर्ण भी। 'प्रसाद' की नाट्यकृतियों में भी उस युग के गौरव के अनुकूल ही यथार्थ और आदर्श, बड़ी खूबी से एक मे मिश्रित हो गये है।

प्रसाद के नाटकों का क्षेत्र, द्विजेन्द्र के मुगल-काल की अपेक्षा अधिक गंभीर और रहस्यमय है और इसी कारण उनके नाटक भी द्विजेन्द्र के नाटकों की अपेक्षा अधिक गूढ़ और गभीर हो गये हैं। प्रसाद के नाटको के ऐतिहासिक युग में न केवल राजनीतिक चहल-पहल तथा प्रणय का घात-प्रतिघात है, बल्कि इससे भी गुरुतर आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व है। सम्पूर्ण द्वन्द्वों के भीतर से प्रसाद को उस युग की आध्यात्मिक जागरूकता को प्रत्यक्ष कर देना पड़ा है। द्विजेन्द्र के नाटकों के सम्राट् केवल व्यक्तियों के साथ लड़ते हैं, कभी-कभी प्रणय की तरगों मे भी डूबते-उतराते हैं, परन्तु प्रसाद के नाटकों के सामने तीन प्रश्न और तीन द्वन्द्व हैं—राजनीति, प्रणय और आध्यात्मिकता। अतएव, प्रसाद के प्रमुख नाटकीय पात्र, बाहरी संग्राम के साथ-साथ स्वयं अपने मन के साथ भी लड़ते हैं, तथा वे आत्मचिन्तन करते हुए ही कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हे पाशविक बर्बरता को ध्वस्त कर देने की आवश्यकता जान पड़ती है, दूसरी ओर अपने मन को सहृदय बनाये रखने को भी साधना करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, एक ओर संसार को उन्हें रणक्षेत्र के रूप में ग्रहण करना पड़ता है, दूसरी ओर अपने मन को तपोभूमि

के रूप में। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' † नाटक मे चाणक्य का अपूर्व चरित्र-चित्र तथा 'स्कंदगुप्त' नाटक के प्रारंभ का प्रथम पैरा इसी बात का उदाहरण है।—एक ओर पूर्ण लिप्त, दूसरी ओर पूर्ण निर्लिप्त रहकर कर्म्म करना, प्राचीन भारत की विशेषता है, और उस विषेशता की एक मनोहर झलक हम प्रसाद के नाटकों में पा जाते हैं।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नाट्यकला की नवीन प्रेरणा प्रसादजी को डी० एल० राय के नाटकों से ही मिली है। यद्यपि प्रसाद और द्विजेन्द्र के ऐतिहासिक उपादानो में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर दोनों के कथानक-शैली और भाषा में भी।

द्विजेन्द्र के नाटकों का मुख्य उद्देश्य बंगीय रंगमंच को उन्नत करना था। उनका ध्येय लोकरुचि के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करना था। और, इसी कारण जनसाधारण को अपनी प्रतिभा से आकर्षित कर उन्होने रगमच पर पूर्ण सफलता भी प्राप्त कर ली। परन्तु, प्रसाद ने अपने नाटकों की सृष्टि, रंगमंच की सृष्टि से नहीं, बल्कि साहित्य को उन्नत बनाने की दृष्टि से की है। उन्होंने लोकरुचि का प्रतिनिधित्व तो नहीं किया ; परन्तु साहित्य

† राय महोदय ने भी 'चद्रगुप्त' नामक एक नाटक लिखा है। प्रसाद और राय की इस एक कृति में चाणक्य के चित्र की तुलना करके दोनों की चरित्र अवतारणा की विशेषता को परखा जा सकता है। प्रसाद ने चाणक्य को जिस महान कर्म्मयोगी दार्शनिक के रूप में उपस्थित किया है, वैसा ज्वलन्त चित्र अन्यत्र नहीं मिलता।—ले०

का प्रतिनिधित्व अवश्य किया है। प्रसाद के नाटकों मे जीवन के लिये मानसिक भोजन है। चिन्तनशील-हृदय पाठक उनके नाटकों से लाभ उठा सकते हैं।

प्रसाद के नाटक घटना-प्रधान नहीं, बल्कि अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान हैं, इसके विपरीत, द्विजेंद्र के नाटक अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान नहीं, घटना-प्रधान हैं। प्रसाद के नाटकों में उतनी ही घटनाएँ हैं, जितनी से अन्तर्द्वन्द्व को प्रत्यक्ष करने में सहायता मिलती है। द्विजेन्द्र के नाटकों में उतने ही अन्तर्द्वन्द्व हैं, जितने से घटनाओ को प्रस्फुटित करने में सहायता मिलती है। इसीलिये, द्विजेन्द्र के नाटकों में जीवन-समुद्र की ऊपरी चहल-पहल और हलचल है तथा प्रसाद के नाटकों मे जीवन-समुद्र की भीतरी गूढ़ता और गम्भीरता है। शायद प्रसाद के नाटक रगमच पर खेले न जा सकें, परन्तु नाटक के लिये बाहरी रंगमंच ही तो सब कुछ नहीं है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कविता के लिये 'कवि-सम्मेलन' ही सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त रंगमच को नाटककार के अनुसार अपना विकास करना पड़ता है, न कि नाटककार को रगमच के अनुसार। यदि नाटककार किसी समय के प्रस्तुत रगमंच का ही पूर्तिकार बन जाय, तो न रंगमच का ही विकास होगा न नाट्यकला का।

प्रसाद के नाटको मे स्त्री-पात्रों की प्रमुखता है। जिस प्रकार सृष्टि के मूल में स्त्रियों की प्रधानता है, उसी प्रकार प्रसाद के पुरुष-पात्रो के मूल-चरित में नारियों की। उन्हींकी सुकुमार एवं भीमाकार मनोवृत्तियों के इंगित पर परिचालित होकर प्रसाद के पुरुष-

पात्र जीवन के विशाल रंगमंच पर कोमल एवं कठिन क्रीड़ा करते हैं। वे नारी-पात्रियाँ पुरुषों को उनके कर्त्तव्य-मार्ग में उद्‌बुद्ध करती हैं। नाटककार के कौशल से पुरुष-पात्रों के तामसिक, राजसिक एवं सात्विक गुणों के अनुरूप ही उन्हे उनकी सहयोगिनियाँ प्राप्त हुई हैं।

प्रसाद के नाटकों के जटिल से जटिल राजनीतिक कार्य्य नारी-पात्रियों-द्वारा सिद्ध होते हैं—ये नारियाँ यदि प्रेम के वासन्ती कुञ्जों में हृदय के साथ खेलती हैं, तो जीवन के प्रज्वलित समर-स्थल मे तलवारों के साथ भी। राजनीति के कँटीले क्षेत्र में अपने महान् लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये वे छल-बल-कौशल से भी काम लेती रहती हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर गायिका भी बन सकती हैं और जादूगरनी भी। राजनीति के क्षेत्र मे उनका यह छद्म-कौशल जहाँ विगत यूरोपीय महायुद्ध के नारी कार्य्य-कर्त्ताओं का स्मरण दिलाता है, वहाँ राजनीति में चिरन्तन की कूटनीतिज्ञता का भी। नारी-पात्रों के इस प्रकार की कार्य्यशीलता की झलक हमे बंगीय उपन्यासकार बंकिम के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यत्र-तत्र दीख पड़ती है। कहीं-कहीं प्रसाद और बंकिम की यह साहित्यिक प्रणाली बिलकुल एक-सी जान पड़ती है, केवल स्थान और पात्र का अन्तर है। कहीं-कहीं दोनो की घटना-शैली मे भी अद्‌भुत सादृश्य दीख पड़ता है।

वर्त्तमान युग मे उत्पन्न होने के कारण यह एक स्वाभाविक बात है कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में सामयिक, सामाजिक

श्रौर राष्ट्रीय भावनाओं का भी परोक्ष प्रभाव है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय आख्यान के पुरातन कलेवर मे नूतन प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। किन्तु, किन्हीं प्रत्यक्ष सामयिक घटनाओं पर उनके चरित्र अवलम्बित न होने के कारण वे चिरशाश्वत-से हो गये हैं।

नाटकीय क्षेत्र मे कला की थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता लेते हुए भी प्रसाद ने कुछ प्राचीन परिपाटियो को रहने दिया है, जैसे स्वगत, विदूषक और गान। पश्चिमी शैली पर हिन्दी मे आनेवाले कुछ नाटकों में इन तीनो ही का बहिष्कार हो रहा है।

नाटकों मे स्वगत की आवश्यकता तो प्रत्येक साहित्यिक युग मे बनी रहने की आशा है। कारण, 'स्वगत' नाटकीय पात्रों के व्यक्तिगत जीवन में वही सहायता पहुँचाता है, जो रंगमंच पर नेपथ्य। सांसारिक मनुष्य का अन्तर्द्वन्द्वमय जीवन द्विविध मनो-वृत्त्यात्मक क्षणों का रंगमंच है, उसके परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप मे कभी-कभी अन्तर भी दीख पड़ता है। इस अन्तर को दिखलाने में नाटककार के लिये 'स्वगत' एक सुलभ साधन है। इसके द्वारा मनुष्य के एक-एक क्षण के अन्तर और बाह्य जीवन का थोड़े ही में बहुत परिचय मिलता रहता है।

हाँ, सस्कृत-शैली के 'विदूषक' का ढर्रा तो अब आउट ऑफ डेट-सा जान पड़ता है। साधारण कथोपकथन मे ही बिना विदूषक के, हास्योद्रेक किया जा सकता है। उस हास्योद्रेक के लिये जरा अधिक आर्ट की आवश्यकता पड़ेगी।

# माखनलाल चतुर्वेदी

"अरे अशेष ! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना - सा !
आ, मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना - सा ॥"

इन पंक्तियों मे माखनलालजी के उपास्य भाव का कवित्व-पूर्ण सूत्र है। हिन्दी-संसार एक 'भारतीय आत्मा' के नाम से उनकी राष्ट्रीय कविताओं से चिरपरिचित है। किन्तु, केवल वे राष्ट्रीय कवि नहीं, बल्कि मुख्यत: प्रेममय जीवन के कवि हैं। गृह एवं बन्दीगृह सर्वत्र वे हृदय के आराध्य की ही झाँकी उतारते हैं। उनका जो आराध्य व्यक्तिगत जीवन मे उन्हें बलिदान और कष्ट-सहन की शक्ति प्रदान करता है, वही राष्ट्रीय क्षेत्र में भी। एक 'आराध्य' ही उनके काव्य और समस्त जीवन की ईकाई है—दैनिक जीवन मे यदि वह कवि-हृदय के सुख-दुख के साथ खेलता है, तो राष्ट्रीय जीवन में कोटि-कोटि मनुजों के हर्ष-विषाद के साथ। उनके आराध्य को हम कृष्ण के रूप मे देख सकते हैं—जो हृदय के वृन्दावन मे प्रेम की अठखेलियाँ करता है, तो जीवन के रण-संग्राम में सखा एवं सहचर बनकर उत्साह प्रदान करता

है। उस यदुवशी के होठों पर यदि समोहिनी वशी है, तो स्फूर्ति-शाली पाञ्चजन्य भी। परन्तु, कवि का वह आराध्य चाहे जितना महान् हो, उसके लिये तो वह एक 'मानव' ही है—मनुष्यों की भाँति ही उसके भीतर भी सुख-दुख एवं उत्साह है; इसीलिये वह कवि-हृदय के निकट है। यदि वह केवल महान् या स्वर्ग का अधिवासी-मात्र होता, तो इस छोटे-से लौकिक घट में समा ही कैसे सकता! उस महान् का हृदय तो इसी विश्व की लौकिक सीमा मे लहराता रहता है, इसीलिये कवि उसे चाहता है; इसीलिये उसके साथ हँसता-खेलता, रोता-तड़पता एवं अपने कर्म्म-मार्ग मे उद्बुद्ध रहता है। यदि वह आराध्य आकाश-सिन्धु की भाँति इस विश्व से परे केवल उर्ध्वलोक मे ही अपनी छटा छहराता रहता तो उसके लिये कवि-हृदय में केवल कौतूहल या विस्मय-मात्र जागृत होता, घनिष्ठता या अनन्यता नहीं, उसमें घुल-मिलकर एक हो जाने की आकांक्षा नहीं। इसीलिये, तो कवि कहता है—

"अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा!"

ओ, महान् (अशेष), तू जिसके कारण महान् है तेरा क्रीड़ा-क्रोड़ तो उसी तुच्छ (शेष) की गोदी है।

माखनलालजी के प्रेम की यह थ्योरी अत्यन्त सरल, किन्तु उनके दृष्टिकोण से परिचय न रखनेवालो के लिये अत्यन्त जटिल पहेली है। इस जटिल पहेली के कारण ही उनकी कविताएँ दुर्बोध

एवं अस्पष्ट-सी जान पड़ती हैं; और यही कारण है कि बहुत-से लोग उनके भावों को हृदयंगम ही नहीं कर पाते।

माखनलालजी की प्रेमभावना पूर्णतः मानव प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है, कृष्ण के उक्त स्वरूप का प्रतीक कोई मनुष्य ही उनका आराध्य बनता है। वे कृष्ण के जीवन को आदर्श देवत्व का जीवन नहीं, बल्कि आदर्श मनुष्यत्व का जीवन मानते हैं—जिसमें हमारी ही तरह दुर्बलताएँ और निर्म्मलताएँ हैं। इसीलिये उन्हे गीता के अलौकिक कृष्ण की अपेक्षा ग्वालबाल के बीच का लौकिक गोपाल अधिक आकर्षक जान पड़ता है, इसलिये नहीं कि वह अपने देवत्व के महान् पद से कवि को वरदान देगा, बल्कि इसलिये कि वह मानव-सुलभ दुर्बलता और निर्म्मलता मे 'साझा' ले सकता है। 'साझा' ले सकता है, इसीलिये वह अपना है। वही 'अपना' जब कभी रूठ जाता है, तो कवि कहता है—

तुम बढते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ छेदने लगे सहसदल की नव-पंखड़ियाँ भूले,
मन्द-पवन संदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही,
उडो, मधुप! नन्दन की दिशि में ज्वालाएँ घर घेर रहीं,
तरुण-तपस्वी, आ तेरा
कुटिया में नव स्वागत होगा।
दोषी, तेरे चरणों पर फिर
मेरा मस्तक नत होगा॥

एक मधुप के रूप मे रूठे हुए हृदय का यह सुन्दर रूपक है—

जो प्रेम-कमल की पंखड़ियों को, एक साथ बिताई हुई उन कितनी कोमल जीवन-घड़ियो को, भूलकर काष्ठ-सी निष्ठुरता में ही अपने आपको केन्द्रित कर रहा है।

पॉच-छ वर्ष पहले, अपने एक लेख मे, श्रीनिरालाजी ने, प्रसङ्ग-वश माखनलालजी की कविताओ के विषय में लिखा था—

"कविता के वर्त्तमान उपासकों मे एक गौरव-पद पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी को प्राप्त है।

"कला की प्रदर्शिनी में जाने से पहले उनकी कविता सहृदयता की ओर चली जाती है। जहॉ कला की चकाचौंध नहीं, आँसुओं का प्रस्रवण जारी रहता है। उदाहरण—

"पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर यहॉ न आते हैं, जो थे बागीचे आते,
झुकी टहनियाँ तोड-तोड़कर, वनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कन्धों पर चढकर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु
जीवित हैं, हॉ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजरना,
हम वे ही फलवाले हैं!"

❀ ❀ ❀

"बाल बिखरे हुए हॅस-हॅस के गजब ढाते हुए
कन्हैया दीख पडा हॅसता हुआ आते हुए।"

"माखनलालजी की इन मक्खन-सी मुलायम पंक्तियों का

लोगों मे बड़ा आदर है। अवश्य इन पंक्तियों का और उनकी प्राय: सभी पंक्तियों का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि में बड़ा अन्धकारपूर्ण है ; परन्तु मैं उसकी विशेष आलोचना नहीं करना चाहता। उदाहरण के लिये कुछ ही पंक्तियाँ पेश करता हूँ—"जो टीले पथरीले है, उन्हे रोज तो क्या, कभी भी सींचने की जरूरत नहीं। फिर बागीचे मे आनेवाले नागर वहाँ नही जाते, तो विशेष बुद्धिमत्ता ही प्रकट करते हैं। नागरो के लिये टीले पर क्या रखा है ? क्यों जायँ ? बात यह है कि सब पंक्तियाँ असम्बद्ध हैं—झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर वनचर भी खा जाते हैं। यहाँ टीले और नागर दोनो गये, वनचर आये । वनचर के बाद 'भी' कहता है कि वनचर तो खाते ही हैं; किन्तु खेचर, निशाचर और न जाने कितने चर खा जाते हैं। अब इन तमाम वाक्यों का सम्बन्ध बतलाइये कि एक दूसरे से क्या है—कला के विचार से कुछ नहीं।"

माखनलालजी की उक्त जिन पंक्तियों पर निरालाजी को आपत्ति है, कदाचित तुलसी के इस दोहे को पढ़कर अभिप्राय स्पष्ट हो जाय—

"तुलसी बिरवा बाग के
सींचत ही कुम्हलायँ।
राम भरोसे वे रहें
परवत पै हरियायँ ॥"

इसी प्रकार जंगल में वे पौधे, जिनके लिये न तो कोमल

भूमि है, न कोई सिचाई-गोड़ाई ही होती है, पथरीले, ऊँचे, शुष्क टीलो पर आप ही पल्लवित-पुष्पित हो उठते हैं। क्योंकर? विश्व-पालक दीनबन्धु की कृपा से!

माखनलालजी की अधिकांश कविताओं की भाव-भूमि, प्राचीन हिन्दी-कवियों की कविता है। कहीं वह तुलसी से प्रेरित है, तो कहीं रसखान से, तो कहीं कबीर से। हाँ, उस भावुकता का रूप-रंग आधुनिक है। जब वे लिखते हैं—

"कुटियों पर महलों को वारूँ"

तब रसखान की ये पंक्तियाँ भी हम गुनगुना उठते हैं—

"वा लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौ।"

कहीं-कहीं उन्होंने प्राचीन भाव को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान कर दिया है, यथा 'पुष्प की अभिलाषा'—

चाह नहीं, मै सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना बनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

ये राष्ट्रीय भाव कदाचित व्रजभाषा की इस प्राचीन कविता

से प्रेरित होकर उद्गीर्ण हुए हैं, जिसे किसी दरबारी कवि ने राजस्तुति मे लिखी थी—

सुनो हो विटप हम पुहुप तिहारे अहैं,
राखिहौ हमें तो शोभा रावरी बढ़ावेंगे।
तजिहौ हरषि कै तो बिलग न मानें कछू,
जहाँ-जहाँ जैहैं तहाँ दूनो जस गावेंगे॥
सुरन चढ़ेंगे नर सिरन चढ़ेंगे नित,
सुकवि अनीस हाथ हाथन बिकावेंगे।
देस में रहेंगे परदेस में रहेंगे काहू,
भेष में रहेंगे, तऊ रावरे कहावेंगे॥

माखनलालजी ने इस भाव को एक भिन्न दिशा में गतिमान कर इसे चिर उज्ज्वल कर दिया है।

'मृत्यु' के सम्बन्ध में माखनलालजी की ये पंक्तियाँ कबीर की शैली पर बड़े अच्छे ढग से चली हैं—

अरी ओ, दो जीवन की मेल,
सखि, तेरा आगम है, 'उनसे' मुक्त प्रणय का खेल!
अरमानों की फटी चदरिया क्यों बिगडे सिलने में?
दो बिछुड़ी पलकों के, श्यामा, दुख क्यों हो मिलने में?
चल प्यारे से मिलें रँगीली, तू पगली मैं पगली।
तू पीछे मैं आगे बहिना, तू पहुँची मैं अँगुली।
ओ मेरे गोरे जीवन की, सुन्दर चादर काली,
ओ मेरे सौभाग्य-सदन के आमन्त्रण की लाली।

पतन, पाप, पीड़ा के पथ के बन्द किये सब द्वार,
जीवन ले जीवन-धन देने, आई तू सुकुमार !
ओ माधव की मधुर पत्रिका- के शब्दों की स्याही,
मेरे हित बन गयी सुनहली घड़ियों की तरुणाई।
कह दे जाकर, उनसे, ऐ सखि, लगता जगत अकेला,
कहीं और को मत दे दें मेरी दर्शन की बेला।
जी में यौवन, विरह विकम्पन, बिन्दु-बिन्दु में अर्पन,
नैहर में कब तक दिन बीतें,—आ ले जावें मोहन।

इसी वाणी को निर्गुण कबीर ने यों कहा था—

"नैहर से जियरा फाटि रे।
तनिक घुँघटवा दिखाव सखी री
आज सुहाग की राति रे।"

एक मे मिलन की तैयारी है तो दूसरे में प्रिय ( परमात्मा ) मिलन का सुहाग है।

माखनलालजी के इस ढग की कविताओं में रहस्यवाद का उत्तम परिचय मिलता है। अपने भाव-विकास में उन्हें अन्य आधुनिक कवियों की भाँति बँगला और अग्रेजी का साहाय्य न मिलकर चिरपरिचित प्राचीन हिन्दी-कविता से ही सहयोग प्राप्त हुआ—हम कह सकते हैं कि प्राचीन हिन्दी-कविता की आराधनामयी आत्मा को उन्होंने खड़ी बोली के कलेवर में अधिष्ठित किया है। यत्र-तत्र उनकी भावाभिव्यक्ति में उर्दू के तर्ज़े कलाम

का भी असर है और जैसा कि एक बार उन्होंने स्वयं बतलाया था, स्वामी रामतीर्थ की मस्ती का उन पर प्रभाव है।

यह ठीक है कि "उनकी प्राय: सभी कविताओ का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि मे बड़ा अन्धकारपूर्ण है।" इसका कारण यह है कि माखनलालजी की कविताओं मे बैकग्राउण्ड लुप्त रहता है और उनकी कविता आकस्मिक नेपथ्य-वाणी-सी लगती है, भावाभिव्यक्ति की यह सांकेतिक शैली ही उनकी अपनी एक खास विशेषता है, जो हिन्दी-कविता मे उनका एक स्वतन्त्र स्कूल बनाये हुए है। उनके स्कूल से प्रभावित तरुणों की संख्या कम नहीं। उनकी कविताएँ, जीवन के किसी-न-किसी भावाख्यान की उपसंहार-सी जान पड़ती हैं, जिन्हे हृदयंगम करने के लिये या तो अपनी सहृदयता का सम्बल लेने की आवश्यकता है या उनके निजी दृष्टिकोण से परिचित होने की। कविता मे कवि के व्यक्तित्त्व से भी कभी-कभी परिचित होने की जो बात कही जाती है, वह आधुनिक कवियों मे सम्भवत: केवल माखनलालजी के लिये ही संघटित है। एक ओर यदि उनका जीवन ही उनकी कविताओं का भाष्य है, तो दूसरी ओर अन्य कवियो की कविताएँ ही उनके जीवन का भाष्य। जो वस्तु एक बार देखने में ही रमणीय जान पड़े, उसमे वास्तविक सौन्दर्य्य है—ऐसा नियम नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु एकाध बार देखने में सुबोध न जान पड़े, उसमें सौन्दर्य्य का अभाव कह देना युक्तिसंगत नहीं। अतएव, हमें अपनी सहृदयता को कुछ कष्ट देकर ही माखनलाल

जी के भावों के अन्तस तक पहुँचने का प्रयत्न करना होगा।

माखनलालजी की कविताओं का कोई परिपूर्ण सग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रकाशित कविताओ से भी कितनी ही अच्छी कविताएँ अप्रकाशित है। अतएव, उनके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार से विचार करना सभव नहीं।

माखनलालजी की कविताओ मे एक हूक, एक कसक, एक कराह, सर्वत्र मिलती है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में भी हृदय की एक पीड़ा है, जेल का वन्दी-जीवन भी उन्हे अपने हृदय में सुख-दुख की बन्दी स्मृतियों से पूर्ण भावो की ही प्रतिध्वनि देता है।

'कैदी और कोकिला' उनकी एक ऐसी ही कविता—

क्या गाती हो, क्यूँ रह-रह जाती हो—कोकिल बोलो तो!
क्या लाती हो सन्देशा किसका है—कोकिल बोलो तो!
क्यों अर्द्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो मतवाली—बोलो तो!

दूर्वों के आँसू धोती, रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस बन पर,
ब्रह्माण्ड कँपाते उस उद्दण्ड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा।
फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना
यह अन्धकार में मधुराई दफनाना!

निखालिस राष्ट्रीय भाव की कविताएँ उन्होंने बहुत नहीं

लिखी हैं। कारण, उसकी पूर्ति तो बाह्य सक्रिय जीवन-द्वारा होती रहती है ; किन्तु आन्तरिक जीवन तो अपनी पीड़ाओं मे सदैव अभावमय—अतृप्तिमय—ही बना रहता है।

कर्मक्षेत्र मे तो मनुष्य वाणी के साथ जीवन को, गान के साथ बलिदान को चाहता है। वह गान, वह बलिदान झरने-जैसा, जो समष्टि के लिये अपने को मिटा देता है। 'सतपुड़ा शैल के एक झरने' को देखकर कवि कहता है—

लय मेरी प्रलय न करती तरुणों के हृदय उतरके
तू कल-कल कहला लेता, पंछी-दल पागल करके।
मेरी गरीब करुणा पर वे मस्तक डोल न पाते
तेरी गति पर तृण-तृण हैं अपनी फुँगनियाँ हिलाते।

चतुर्वेदीजी की छोटी-छोटी षट्पदियों में बड़ा ओज रहता है ; हाँ, चतुर्वेदीजी जितने भाव-शिल्पी हैं, उतना शब्द-शिल्प की ओर उनका रुझान नहीं। अपनी कविताओं में वे अधिकतर उर्दू शब्दो का प्रयोग तो करते हैं ; किन्तु कभी-कभी बहुत चलते शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं, जो कि किन्हीं भागते हुए क्षणो के ही 'मूड' के द्योतक है। गद्दार, सनाका, ममता-बारूद, ये शब्द-प्रयोग अपना काव्य-सौन्दर्य्य खो देते हैं, पद्य मे गद्य के प्रतिनिधि हो जाते हैं।

चतुर्वेदीजी भाव-प्रधान कवि होते हुए भी राष्ट्रीय कवि के रूप मे ही अधिक प्रसिद्ध हैं और अनजान लोग उनकी सभी कविताओं में से राष्ट्रीयता को खींच निकालने का कठिन प्रयत्न

करते हैं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं का अन्धाधुन्ध अनुकरण भी हुआ है।

काव्य के व्यापक अस्तित्व से अपरिचित जन, राष्ट्रीयता मे ही कविता की इति श्री समझते हैं। अतएव, उस राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में यहाँ कुछ शब्द—

जिस प्रकार रवि बाबू के कोमल प्रभाव से हमारे नवयुवकों में छायात्मक भावो की प्रेरणा आयी, उसी प्रकार काजी नजरुल इस्लाम के विप्लव-घोष से राष्ट्रीय कविताओं की स्फूर्ति भी जगी है। काजी नज़रुल न केवल अपनी कविताओं से, बल्कि अपने नित्य जीवन के भीतर से भी समाज की अंध रूढ़ियों और राष्ट्र की पगु दुर्बलताओं के विकट विद्रोही हैं। विद्रोह के भैरव स्वर को उन्होंने विगत यूरोपीय महायुद्ध मे स्वयं भाग लेकर तोपों की गड़गड़ाहट में सुना है। उसीने उनकी कविताओं मे अपना गगनभेदी अन्तर्नाद भर दिया, जिसने फूलों की सेज पर सोनेवाले नवयुवकों को भी जगा दिया। नजरुल का लक्ष्य है—जीवन की भस्मसात चिनगारियों को जाज्वल्यमान कर देना, विश्व की प्रत्येक गति मे आत्मा की अमोघ शक्ति को जगा देना, संकुचित दृष्टि को अनन्त आकाश की भाँति विशाल बना देना।

राष्ट्रीय कविताओं के क्षेत्र मे आदरणीय गुप्तजी को पर्याप्त श्रेय मिल चुका है। उनके बाद माखनलालजी, नवीनजी और सुभद्रा कुमारीजी की कविताएँ भी प्रसिद्ध ही हैं।

हमारे देश में चन्द बरदाई तथा भूषण के समय से लेकर

जातीय पुकार के रूप मे राष्ट्रीय कविताओं का उद्बोधन सुनायी देता आ रहा है—भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और भिन्न-भिन्न समस्याओं के अनुसार। ऐसी कविताओं को भी हम एक प्रकार की समस्यापूर्ति ही कह सकते हैं। हाँ, यह शब्दों और पंक्तियों की नहीं, बल्कि एक खास दिशा के भावों और विचारों की समस्या-पूर्ति है। राष्ट्रीयता के भिन्न-भिन्न कालो की सीमित भावनाओ की परिधि के अनुरूप लिखी गयी कविताएँ अपने समय के साहित्य और इतिहास की द्योतक हो सकती हैं, परन्तु विश्व-साहित्य की अक्षय निधि बनने के लिये उन्हे अपनी सीमित परिधि से ऊँचा उठना होगा; उनके शब्दों मे विश्वजनीन भावों को भरना होगा। एक निश्चित परिधि मे केन्द्रित राष्ट्रीय कविताओ का साहित्यिक महत्व बदलता रहता है। कारण, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार एकदेशीय राष्ट्रीयता के भाव भी बदल जाते हैं। ऐसी दशा मे वे कविताएँ साहित्य के इतिहास में ही अपना अस्तित्व रख पाती हैं, साहित्य के कण्ठ मे नहीं। केवल देश-काल की एक खास भावना को सामने रखनेवाली कविताओं को मै तत्कालीन समय का पैम्फलेट समझता हूँ, जो कि विद्युत की तरह चमककर सामयिकता के बदलते हुए बादलों में छिप जाती है। किन्तु, जो भाव राष्ट्रीयता के सीमित शरीर में आकर अपनी चिरकालीन विश्व-व्यापकता के कारण शाश्वत आत्मा की भाँति अमर हो जाते हैं, वे एक देश, एक काल में उत्पन्न होकर भी अखिल देश, अखिल काल के गीत बन जाते हैं। यथा—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से!

यह भारत के व्यथित कंठ की वाणी होकर भी अखिल विश्व के आर्त्तकंठ की वाणी है। यह देश-काल की लघु सीमा से मुक्त होकर अखिल व्योममण्डल मे गूँज उठती है।

एक दिन बंगाल के किसी कवि ने गाया था—

"वंग आमार देश, बग आमार जननी"

तब यह उद्गार बंगाल के कठ तक ही गूँजकर रह गया। किन्तु, बंकिम की प्रखर वाणी—

त्रिंश कोटि कठ कल-कल निनाद कराले
द्विर्त्रिंश कोटि भुजैर्धृत खर करवाले
के बले मा! तुमि अबले?

यह वाणी, बगाल के नद, नदी, गिरि-गह्वरों को पार करती हुई, त्रिंशकोटि के कण्ठों से निनादित होकर हिमालय के उत्तुङ्ग गिरि-शृङ्गों पर भी गूँज उठी। इसी प्रकार कविता के भाव अपनी व्यापकता में जितनी ऊँचाई तक उठेंगे, उतनी ही दूर तक वे आकाश को छू लेंगे।

एकांगिनी राष्ट्रीय भावनाएँ, देश-काल के परिवर्तन के साथ साथ आगे की अमर भावनाओं के लिये अपना स्थान रिक्त कर जाती हैं। देश-काल की रेखाओं को पार कर मानव-हृदय के वे

ही चिरन्तन भाव प्रत्येक युग, प्रत्येक काल में अजर-अमर रहते हैं, जिनके साथ अखिल विश्व के सुख एवं हर्ष-विषाद के तार बजते रहते हैं। अपने स्वाधीन दिनो मे मनुष्य अपने पराधीन युग की राष्ट्रीय भावनाओं को भूल सकता है; परन्तु वह अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-प्रणय, मिलन-विरह, आह्लाद-अवसाद एवं क्षण-क्षण के आंतरिक घात-प्रतिघात को नहीं भूल सकता। इसीमे तो उसका चिरंतन जीवन है, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी युग का प्राणी क्यों न हो। आज कितने दिन, कितने वर्ष बीत गये, अकबर और शाहजहाँ की राजनीति, रण-कुशलता और विश्व-विजयिनी वीरता केवल इतिहास के पन्नों मे उनकी राजकीय प्रवृत्ति के अध्ययन की सामग्री-मात्र रह गयी है, अखिल जगजीवन के प्राणों की सम्पत्ति नहीं। किन्तु, वह यमुना के सूने तट पर शोभायमान, मानव-हृदय की अमर प्रणय-वेदना का प्रतीक, ताजमहल, जिसके मर्म तक पहुँचकर एक नवोदित हिन्दी कवि ने कहा है —

> काल पृष्ठ पर लिखे हुए तुम
> अमर काव्य हो अय पाषाण!
> शब्दहीन संगीत तुम्हारा
> सुन रो उठते मेरे प्राण—

वह करुणा की रानी का ताजमहल, अखिल देशो, अखिल दिशाओ से आनेवाले प्रेम-पथिकों के स्नेहाकर्षण का ध्रुवतारा बन गया है। क्यों? उसमे किसी एक देश या एक सम्राट् के

हृदय की वेदना नहीं, वह तो लाख-लाख मर्माहत हृदयों की प्रेम-समाधि है। जिसे हम छायावाद कहते हैं, उसमे मानव-हृदय की ऐसी ही व्यापक भावनाओं का गान है जो जीवन के चिरन्तन स्रोत मे गूँजता रहता है। वह देश-काल के उपकूलो मे उठता हुआ, विश्व-चेतना का कलरव है।

चतुर्वेदी की कविताओं मे भी विश्वचेतना का यह कलरव सुना जा सकता है। उनकी वे राष्ट्रीय कविताएँ भी किन्हीं सामयिक घटनाओं तक ही केन्द्रित नहीं, बल्कि उनमें एक चिरकालीन व्यापकता भी है।

हाँ, कविता की सीता राजनीति को भी जीवन की भिक्षा दे सकती है, परन्तु अपनी कला-मर्यादा की रेखा के भीतर रहकर ही, इसके बाहर निकलते ही राजनीति कविता को हर ले जायगी। और आज सचमुच राजनीति कविता को हरे लिये जा रही है। कलाकारो को इसकी रक्षा का ध्यान रखना है।

कवि के साथ ही चतुर्वेदीजी एक कुशल पत्रकार तथा ओजस्वी वक्ता हैं; राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता हैं। आपके वार्त्तालाप और वक्तृता दोनों में मनोहर गद्य-काव्य का रस रहता है। पत्रकार-कला में आपकी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। कविताओं के अतिरिक्त कुछ छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ और गद्य-काव्य भी आपने लिखे हैं। रंग-मंच के उपयुक्त 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक एक नाटक भी। जन्म सम्वत् १९४५।

---

# सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

मेरे उस बाल्ययुग मे, जब कि नवीन जागरण की किरणें मेरी अनजान आँखो तक नही पहुँच सकी थीं, उन दिनों जिन दो नूतन कवियों ने अपनी प्रतिभा से मेरे हृदय को स्पर्श किया था, वे हैं— निराला और पन्त। पन्त की कविता में प्रभात की गुलाबी छटा मिली तो निराला की कविता मे दोपहरी की चमक। एक मे रमणीयता है, दूसरे में प्रखरता।

निरालाजी हिन्दी-कविता की बाह्य कला में स्वतन्त्रता के एक सूत्रधार हैं। निस्संदेह वे कवि से अधिक 'टेकनीशियन' हैं। हिन्दी में मुक्तछंद का प्रवर्त्तन उनकी सर्वोपरि विशेषता है। मुक्त-छंद कविता मे भाव प्रवाह को एक विशेष गति प्रदान करता है, जो कि बन्धनमय छंदों मे सुलभ नहीं। पन्तजी के शब्दों मे— "स्वच्छन्द छंद ध्वनि अथवा लय ( Rhythm ) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्भर नाद मे उतरता, चढ़ाव में मन्दगति, उतार मे क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिये ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन विवर्तन के अनुरूप संकु-

चित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।" अपने इसी विचार के अनुसार पन्तजी ने 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता को स्वच्छन्द छन्द का रूप दिया। उसने छन्दोबद्ध होकर भी, पक्तियों के प्रसार में भावना के अनुसार लघु-दीर्घ मात्राओ की स्वतन्त्रता प्राप्त की है। और पन्तजी के विचार से—"अन्य छन्दो की तरह मुक्तकाव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-सगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।" किन्तु, पन्तजी के मुक्तकाव्य से निरालाजी का 'स्वच्छन्द छन्द' भिन्न है—उनके लिये "मुक्तछन्द तो वह है जो छन्द की भूमि मे रहकर भी मुक्त है। मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।" जिस प्रकार निरालाजी ने स्वच्छंद छन्द की सृष्टि हिन्दी मे की है, उसी प्रकार की एक मुक्त सृष्टि, स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष महोदय वर्षों पहले बँगला-साहित्य मे भी कर गये हैं। जान पड़ता है, इस दिशा में वे गिरीश बाबू के ही पद-चिह्नों पर चले हैं। माइकेल के 'मेघनाद-वध' के अतुकान्त को उसके बँगला पदविन्यास के अनुसार हिन्दी-पद-विन्यास का रूप देते समय, गुप्तजी ने जिस प्रकार उसे हमारे यहाँ के छन्द से वेष्टित किया है, उसी प्रकार गिरीश बाबू की मुक्त शैली को निरालाजी ने हिन्दी के अनुसार एक रूप दिया है।

माइकेल ने जब बँगला मे पहले पहल अपना अमित्राक्षर छद लिखा, तब उनके मित्रों ने उसकी गठन-प्रणाली के विषय में

उनसे जिज्ञासा की थी। माइकेल ने उत्तर मे कहा था—"इसमें पूछने और बताने की कोई बात नहीं। इसकी आवृत्ति ही सब बाते बता देगी। जो इसे हृदयंगम करना चाहें, वे इसे बार-बार पढ़ें। बार-बार आवृत्ति करने पर जब उनके कान अभ्यस्त हो जायँगे तब वे समझेंगे कि अमित्राक्षर क्या वस्तु है।" यति के सम्बन्ध मे उन्होंने कहा था—"जहाँ-जहाँ अर्थ की पूर्णता और श्वास का पतन हो, वही-वहीं इसकी यति समझनी चाहिये"—कुछ इसी तरह की बात निरालाजी के स्वच्छन्द छन्द के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। क्योंकि, दोनो के छंद-गठन में भिन्नता होते हुए भी, उनमे प्रवाह एवं गति ही प्रधान है।

निरालाजी ने दो तरह के मुक्त छंद लिखे हैं—तुकान्त और अतुकान्त। तुकान्त मुक्त छंद द्वारा मुक्तक काव्यों को भावस्वातन्त्र्य मिलता है तो अतुकान्त मुक्त छंद द्वारा गीतिनाट्यों मे वाक्-स्वातन्त्र्य जैसे, निरालाजी के 'पंचवटी-प्रसंग' में। जो कविताएँ उन्होंने तुकान्त लिखी हैं, वे छंदोबद्ध कविताओं की तरह गुनगुनाई जा सकती हैं। उनकी तुकें उनमें झनकार पैदा कर देती हैं। निरालाजी अपनी ऐसी कविताओं को बड़े सुन्दर ढंग से गाते हैं, उनके स्वरों मे गूँजकर उनके मुक्त छंद हृदय को लुभाते हैं।

परन्तु, अतुकान्त मुक्त छंद निरालाजी ने केवल पढ़ने के लिये लिखा है। उसके पढ़ने की एक खास कला है; कोरे गद्य की तरह नहीं, बल्कि बातचीत की शैली को थोड़ा पद्यवत् कर

देने से ही उनके अतुकान्त मुक्त छंद का सौन्दर्य खिल पड़ता है। उसमें 'आर्ट आफ रीडिंग' का आनन्द मिलने लगता है। निरालाजी ने इस मुक्त छद की सृष्टि, रगमच की दृष्टि से की है। कहीं-कही वर्णनात्मक कविताओं में भी इसका उपयोग किया है, जो कि गीतिनाट्य के मुक्तक रूप के समान हैं।

हाँ, कही-कहीं उन्होंने अपने छन्दों को इतना स्वच्छन्द कर दिया है कि उनमे स्वच्छन्दता का सौंदर्य नष्ट हो गया है। अति स्वच्छन्दता के कारण ही उनकी पंक्तियाँ कहीं-कहीं गद्य-सी हो गयी हैं और कही-कहीं गति-भंग भी हो गया है, जिसके कारण ही स्वरपात देना पड़ता है।

निरालाजी जीवन की चतुर्दिक भावनाओ के कवि हैं; किसी एक दिशा के नहीं; वल्कि देश, समाज, मानव-हृदय एवं प्रकृति-जगत सभी दिशाओं के भाव उनकी कविताओं मे हैं।

वेदान्त उनका प्रिय विषय है, कविता में भी, लेखों में भी। हिन्दी में वे स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। बंगाल में जन्म होने के कारण, साथ ही वहाँ के वायुमंडल में अधिक काल तक साँस लेने के कारण, वे स्वभावत: स्वामी विवेकानन्द के ही वेदान्त के ससर्ग में आये। अपनी रुचि के अनुकूल ही, कलकत्ता में रामकृष्ण-मठ के 'समन्वय' मासिक पत्र का सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हे अपनी वैदान्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। तभी से हिन्दी-संसार उनसे परिचित है।

"निरालाजी एक वास्तविक दार्शनिक व्यक्ति है।"—जीवन के कर्म्म-कोलाहल मे लगे हुए निरालाजी के दैनिक स्वरूप को देखकर, अधिकांश लोगों को इस उक्ति मे अत्युक्ति जान पड़ेगी। इसका कारण, उनके बहिरंग और अन्तरग जीवन मे एक साथ ही दो ऐसी विरोधी धाराएँ बहती है कि सर्वसाधारण के लिये निरालाजी, दर्शन की जटिल ग्रन्थि की ही भाँति एक जटिल पहेली बन जाते हैं। किसी उपन्यास के गहन चरित्र की भाँति वे भी हमारे मनन की वस्तु बन जाते हैं। मनस्तत्व से अनभिज्ञ मेरे-जैसे पारखी ( ! ) उन्हे समझने में कभी-कभी भूल भी कर सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निरालाजी की कविताओ मे भी यही बातें देखी जा सकती हैं। यथा—

एक बार बस और नाच तू श्यामा!
कितने ही हैं असुर
चाहिये कितने तुझको हार?
कर-मेखला मुण्डमालाओं से—
बन जन-मन-अभिरामा,
एक बार बस और नाच तू श्यामा!

—इत्यादि

विश्व की आसुरी प्रभुता के प्रति सिंहवाहिनी दुर्गा का जो आक्रोश है वही निरालाजी की इन पंक्तियों में भी।

मैंने 'मैं' शैली अपनायी,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय मे मेरे
झट उमड़ वेदना आई,
उसके निकट गया मैं धाय
लगाया उसे गले से हाय!

—इत्यादि

अखिल विश्व मे 'मैं' ही व्याप्त हूँ, विश्व मेरा ही विराट् रूप है, एक रूप मे अनेक होकर मैं ही सबमें दुखी-सुखी हूँ। वेदान्त के इसी भाव के अनुसार कवि ने—"देखा दुखी एक निज भाई"। इन पंक्तियो मे निरालाजी कवि और दार्शनिक दोनों ही एक साथ हैं। इनमें उनका हृदय और मस्तिष्क, दोनों है। निरालाजी का हृदय, कवि है; मस्तिष्क, दार्शनिक है। भिक्षुक, दीन, विधवा, संध्या, यमुना, सरोज-स्मृति जैसी कविताओं से जहाँ उनकी करुण तथा कोमल अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है वहाँ उनका हृदय है; और जहाँ वे तत्वदर्शी बन जाते हैं वहाँ उनके उर्व्वर मस्तिष्क का ही परिचय मिलता है। वहीं वे दुर्बोध भी हो जाते हैं।

उनके हृदय और मस्तिष्क की ये दो भिन्न भावनाएँ कभी तो अलग-अलग और कभी एक में मिली हुई दीख पड़ती हैं। यही

बात उनके वार्त्तालापों मे भी है, और यही उनके जीवन मे भी, लेखों मे भी, कविताओ मे भी।

निरालाजी की भाषा संस्कृत से परिपूर्ण और मांसल है, हिन्दी के कलेवर मे वह उसीकी होकर खिलती है। अवश्य ही वह कहीं-कहीं अति सघन संस्कृतप्राय भी हो जाती है, परंतु उसकी सुचारुता नष्ट नहीं होती। कभी-कभी आप अपने संस्कृत-शब्द-समूह के बीच उर्दू शब्दो का भी प्रयोग कर देते है, जो कि कहीं तो भाषा मे जान ला देते है तो कहीं हलके भी पड़ जाते हैं। वाक्य-विन्यास पर बँगला के तर्ज का प्रभाव स्वभावत पड़ा है।

निरालाजी की कविताओ में पौरुष है जो कि उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है। उनकी शृङ्गारिक कविताओ मे भी इसी पौरुष का परिचय मिलता है। उनमें जो कोमलता है वह भी मानो लोहे की चादर का लचाव है।

"वेदान्त कवि का प्रिय विषय है; इसलिये उनकी रचनाओं मे फिलॉसफी का समावेश अनिवार्य रूप से रहता है। उनकी आकृति, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, बातचीत, सब वेदान्त-मय है, यहाॅ तक कि उनकी बनाई हुई सुरती मे भी वेदान्त का बिना बुलाये प्रवेश हो ही जाता है।"

"निरालाजी के लिये यह जीव-जगत मिथ्या है, उनकी ईकाई वही 'शाश्वत-ज्योति' है, जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक, कथात्मक विचारो के मूल में है।

दार्शनिकता जहाॅ विचार, विश्लेषण अथवा तत्वज्ञान के रूप

मे न आकर भावरूप में आती है, वहाँ वह कविता मे खिल पड़ती है। परन्तु, कविता मे जब दार्शनिकता भावरूप न होकर तत्त्वरूप मे सम्मिलित होती है तब वह कविता के लिये भारी पड़ जाती है। उस समय कवि 'कवि' न रहकर 'ज्ञानी' बन जाता है। संत-काल के कवियों में कबीर के सम्बन्ध में इसीलिये तो यह प्रश्न बना हुआ है कि वे कवि थे अथवा ज्ञानी ? परन्तु, कबीर वस्तुतः ज्ञानी और कवि दोनों ही थे—जहाँ उन्होने अपनी दार्शनिकता को भाव का मनोहर सुघर रूप दिया है ( यथा—'सज ले शृंगार चतुर अलबेली' या 'चन्दन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।' )—वहाँ वे कवि जान पड़ते हैं ; और जहाँ उन्होंने अपने ज्ञान का परिज्ञान कराया है—(यथा—'एहि विधि जीव का भरम न जाई' इत्यादि )—वहाँ वे उपदेशक या फिलॉसफर-से जान पड़ते हैं।

बात यह है कि तत्त्व-निरूपण काव्य की अपेक्षा गद्य का अधिक उपयुक्त विषय है, जिसमे बुद्धि के वैभव का प्रशस्त परिचय मिलता है। निरालाजी ने अपने दो प्रकार के मुक्त छंदो में अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है। तुकान्त मुक्त छद मे भावमग्न तथा अतुकान्त मुक्त छंद मे ज्ञानमय। अतुकान्त मुक्त छंद प्रायः गद्य-काव्य है ; इसीलिये उसमें उनकी ज्ञान गरिमा 'भारी' नहीं हो पाती। परन्तु, तुक्रान्त मुक्त छद, अथवा कहीं-कहीं अपने गीतो में भी, जहाँ उन्होने उस ज्ञान के गुरुत्व को प्रतिष्ठापित करना चाहा है, वहाँ वह निस्संदेह बोझिल और शुष्क हो गया है।

पन्त की 'गुञ्जन' की दार्शनिक कविताओं मे भी भाव और ज्ञानपक्ष दोनों साथ-साथ हैं; अतएव जहाँ एक ओर उनका भाव-सौन्दर्य्य हृदय के लिये सहज गम्य है, वहाँ दूसरी ओर विचार-पक्ष मस्तिष्क से बौद्धिक शक्ति का तकाजा करता है।

निरालाजी विशेष रूप से हमारे साहित्य में सन् १६२३ मे आये—उस राष्ट्रीय उथल-पुथल के युग में ही उन्होंने साहित्यिक उथल-पुथल की थी। उन्हीं दिनों कलकत्ते से साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' प्रकाशित हुआ था। उसीमें दो-तीन वर्ष तक अविराम, धारावाही रूप से आपकी कविताएँ रंगीन मुखपृष्ठ पर प्रति सप्ताह प्रकाशित होती रहीं। उन रंगीन मुखपृष्ठों ने हिन्दी-कविता में भी एक निराला रंग ला ही दिया। मुझे वे दिन याद हैं जब एक ओर वर्षों के संचित उत्साह से मानो बाँध तोड़कर निर्बन्ध निर्झर की भाँति उनका काव्य-प्रवाह उमड़ता हुआ बह रहा था, दूसरी ओर विकट आलोचनाओं के शिलाखण्ड उस गति का उपहास कर रहे थे। उन दिनों प्रथम-प्रथम निराला के उन्मुक्त काव्य-पुलिनों पर हम तीन अबोध खद्योतों—( मैं, पद्मा और विजय )—ने ही अपनी क्षीण आभा का परिचय दिया था। तब से कितने वर्ष बीत गये, और आज, निराला की कविताएँ हमारे गंभीर विचार की सामग्री हैं।

निराला की कविताओं में संस्कृत की आत्मा, हिन्दी का कलेवर और बँगला का आच्छादन तथा अंग्रेजी की लाक्षणिकता है। इसीलिये, यदि उसमें एक ओर आर्य्य संस्कृति की प्राण-

प्रतिष्ठा है तो दूसरी ओर बँगला तथा अंग्रेजी की विकसित काव्यकला की अभिव्यक्ति।

निराला की कविताओं में भावों का विकास बड़े ही क्रमिक ढंग से होता है—जिस प्रकार फिल्म मे प्रत्येक पद-निक्षेप का स्पष्ट परिचय मिलता है, उसी प्रकार उनके काव्यचित्रों मे भी। 'सन्ध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

पन्तजी यदि शब्दों की ध्वनि से भावों को मूर्त्त रूप दे देते हैं तो निरालाजी वाक्यों के प्रवाह से वातावरण को।

दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण, निरालाजी की कविताओं में विषय-प्रतिपादन की अंकगणित-सी सचेष्टता भी दीख पड़ती है। यह सचेष्टता वेदान्ती कविताओं में तार्किक रूप मे प्रकट हुई है तो किन्हीं प्राकृतिक कविताओं मे भौगोलिक रूप मे। इसी कारण 'वन-कुसुमों की शैय्या' शीर्षक कविता की आरंभिक भूमिकापूर्ण पंक्तियाँ भौगोलिक-सी हो गयी हैं। उनकी कई कविताओं में ऐसा जान पड़ता है मानो पाण्डित्य ने कला का पाणिग्रहण किया है।

कवि की कविताओं में यत्र-तत्र सांसारिक अनुभवों के भी उद्‌गार हैं, उनमे एक ओर करुणा की कोमल साँस है तो दूसरी ओर हृदय का दुर्द्धर्ष विद्रोह। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'स्वप्न-स्मृति' में 'कवि-हृदय के करुणतम चित्र' हैं, तो 'आवाहन', 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र', में उसके भैरवी भाव। रसोद्रेक में कवि की लेखनी सक्षम है। कवि की जो लेखनी एक ओर कापुरुषता को ललकारकर कहती है :—

"जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु - नद-तीरवासी !—
सैन्धव तुरङ्गों पर
चतुरंग चमूसंग ;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

वही लेखनी खूब छककर मधु में घुली "होली" के शृंगाररस मे रँगरेली भी करती है।

सम्पूर्ण लौकिक रसों के ऊपर कवि का अलौकिक वेदान्त रस है। और अपने मुक्त छंद की भाँति ही मानव को वह उसके मुक्त स्वरूप का भी स्मरण दिलाता रहता है—

"मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन बन्ध, छन्द ज्यों
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप।"

निरालाजी ने अपने निर्बन्ध छंद के अतिरिक्त बन्धनमय छंदों मे भी अपने कवित्त्व का मनोहर परिचय दिया है—'यमुना' और 'स्मृति' के अतिरिक्त 'वासन्ती' एवं 'वसन्त-समीर' में उनका

मधुर भाव-संगीत है। आपकी कुछ गीति-कविताएँ भी मनोहर हैं। हिन्दी में इन दिनो, शताब्दियों बाद, फिर गीतिकाव्य की सृष्टि हो रही है; अतएव उसके सम्बन्ध मे यहाँ दो शब्द—

रवि बाबू की गीताञ्जलि को जब हम गुनगुनाते हैं, तब यह विचार हमारे हृदय में उठता है कि गीतो के भाव चाहे जितने ऊँचे अथवा रहस्यमय हों, किन्तु शब्द और गीत सहज प्रवाह-शील होने चाहिये। सगीत ही तो हृदय की एक ऐसी प्रिय वाणी है, जहाँ हमे भावों के सरोवर मे कुछ देर तीर्थ-स्नान करने का सुयोग मिलता है। गीतों में अधिक सामासिक शब्द भार-स्वरूप हो जाते हैं और उनका प्रवाह रुक्ष एवं रुद्ध हो जाता है।

कविताओं के अतिरिक्त निरालाजी ने कहानियाँ, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे हैं। निस्संदेह निरालाजी मे कथा-सृष्टि की भी सुन्दर क्षमता है, किन्तु आपका गद्य क्लिष्ट न होते हुए भी प्रायः अस्पष्ट हो जाता है, मानो कुहरे के धूमिल आच्छादन मे उनके कला की किरणें फूट रही हों। 'प्रसाद' की तरह सम्भवतः उनकी भाषा भी 'मूड' के अनुसार ही चलती है। जहाँ कहीं भाषा अपनी सुन्दरता मे निखर पड़ी है, वहाँ वह उनके अच्छे 'मूड' का द्योतक है। आप एक ललित-कण्ठ गायक और वादक हैं, व्याख्यानदाता भी।

आपके 'परिमल' नामक काव्य-संग्रह से पाठक परिचित ही हैं। इधर आपकी कुछ और कविता पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं— गीतिका, अनामिका, तुलसीदास। कथा-कृतियाँ ये हैं—अप्सरा,

अलका, प्रभावती, लिली, कुल्ली भाँट, इत्यादि । निबन्ध-संग्रह, प्रबन्ध-पद्म ।

निराला का बाह्य रूप जितना ही भीमाकार है, अन्तर उतना ही प्रेममय सुकुमार। उनके शरीर के सुदृढ़ दुर्ग मे पद्मिनी की ही भाँति एक कोमल सहृदयता सुरक्षित है। हिन्दू-संस्कृति के आप परम भक्त हैं।

निरालाजी की जन्मभूमि बंगाल है । इनके पिता उन्नाव (यू० पी०) के गढ़ाकोला गाँव के निवासी थे; किन्तु नौकरी करने के कारण बंगाल के महिषादल स्टेट में बस गये थे; अतएव, वही इनका वंश-विस्तार हुआ।

बंगाल में उत्पन्न होने के कारण, इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ, बँगला और संस्कृत से हुआ था। अतएव, प्रारम्भ मे आप संस्कृत और बँगला मे ही कविता लिखा करते थे; पर बड़े होने पर इनका स्वाभाविक प्रेम हिन्दी पर हुआ। हिन्दी इन्होंने अपनी स्व० धर्मपत्नी द्वारा सीखी। इनकी धर्मपत्नी नित्य रामायण का पाठ किया करती थीं। उसीके प्रभाव से इन्होंने भी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त की। रामायण ही एक तरह से निरालाजी के हिन्दी-ज्ञान का गुरु है।

आपका रचना-काल सं० १६७२ से प्रारम्भ होता है। 'जुही की कली' और 'अधिवास' इनकी प्रारम्भिक उत्तम रचनाएँ हैं। जन्म सं० १६५५।

# सुमित्रानन्दन पन्त

"छवि की चपल उँगलियों से छू
मेरे हृद्तन्त्री के तार,
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुञ्जार!"

द्विवेदी-युग मे, जब कि ब्रजभाषा और खडी बोली का वाद-विवाद चल रहा था और उस युग के नवयुवक ( और आज के वयोवृद्ध ) कवि खड़ी बोली के प्रोत्साहन के लिये सलग्न थे, उस समय १८-१६ वर्ष का एक किशोर कवि अपने ही हृदय के नीरव एकान्त मे, आप ही आप अपनी सौन्दर्य-कल्पना के अनुरूप, खड़ी बोली को रूप-रंग देकर उसके अन्तरतम में मधु-गन्ध भर रहा था ; अपने ही क्रीड़ा-कौतूहल, हास-विलास एव स्नेह-पुलक से उसे एक जीवन दे रहा था। वही किशोर कवि आज अपनी कल्पनाओं और भावनाओं के साथ ही तरुण होकर शत-शत भावुक हृदय नवयुवकों के स्नेहाकर्षण का केन्द्र-विन्दु बन गया है। श्री निरालाजी के शब्दों में—"आज उसीकी प्रतिभा के रूप-रंग, मधु-गंध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रतिमुख मुखर है !"—वह कौन है ?—श्री सुमित्रानन्दन पन्त।

पन्तजी मुख्यतः प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि हैं। मनुष्यों की भाँति ही प्रकृति का भी अपना एक संसार है—मानव-जग की भाँति ही उसका भी एक रूप-लावण्य, हास-विलास, क्रीड़ा-कौतूहल है। उसी प्राकृतिक विश्व की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लीलाओं तथा उसके एक-एक नयनाभिराम दृश्यों का पन्त की कविताओं मे अलबम है।

हमारे कवि के जन्म के दिन ही उसके नन्हे कोमल हाथों से माँ का स्नेहांचल छूट गया था। मातृ-विछोह की वही अज्ञात अनुभूति मानो कवि की इन पंक्तियों मे है—

"खोलता इधर जन्म लोचन।
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण।"

परन्तु, उस मातृ-अंचल के करुण अभाव मे भी प्रकृति-जननी ने अपने स्नेह-स्पर्श से उसके हृदय को सजल मधुर कर दिया।

मनुष्य जब संसार को मा की गोद मे बैठकर देखता है, तभी वह कवि हो जाता है। वह मा कौन है?—गोद में लेकर हलराने दुलरानेवाली वह वात्सल्यमयी जननी ही केवल मा नहीं है। वह तो जगज्जननी प्रकृति की एक प्रतिनिधि-मात्र है, जो अपनी अमृत-घूँटी पिलाकर उस विश्व-जननी की सरसता, मधुरता, सुन्दरता हमारे हृदयों और प्राणों मे भर देती है। किन्तु, मनुष्य ज्यों-ज्यों वयस्क होता जाता है, उसकी आँखों पर धीरे-धीरे भौतिकता का मोटा पर्दा पड़ता जाता है, और उसकी स्थूल दृष्टि उस चिर-आनन्दमयी प्रकृति-जननी को भूल जाती है। कवि

उस लोक-कल्याणी को नहीं भूलता। वह उसकी स्नेह-गोद मे चिरन्तन एक नित्य नवीन शिशु की तरह खेला करता है। वह ऐसे गीत गाता है, जिनमें प्रकृति के प्रेम और सौन्दर्य का सन्देश रहता है। उसे सुनकर कठोर पत्थरों से उठी हुई आडम्बर पूर्ण अट्टालिकाओ से विरत होकर सांसारिक जन प्रकृति के कछारो और कजों मे अपने सतप्त हृदय को सुशीतल करने के लिये दौड पड़ते हैं। यदि प्रकृति के ये लाड़ले शिशु ( कवि ) कभी-कभी संतप्त संसार मे अपनी हिम-जल-जैसी शीतल वाणी न ढुलका देते, तो आज विश्व का कोना-कोना लाक्षागृह की तरह ही प्रज्ज्वलित होकर भस्मसात् हो जाता।

बचपन से ही कवि के सौन्दर्यप्रिय हृदय को, प्रकृति और कला अपनी ओर खींच लेती थी, मानो वे अपने इस सजातीय को उसी समय से पहचान गयी थीं। बाल्यकाल मे वह नदी के रंग-बिरंगे पत्थरो से खेला करता था। प्रकृति के उस मनोरम सौन्दर्य-तट पर उसके कौतूहलपूर्ण हृदय में कला अज्ञात भाव से अपनी छबि बिखेर रही थी। शायद बाल्यक्रीड़ा की वही भोली स्मृति आज भी कवि की आँखों में अकित है—

सरिता के चिकने उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रगीन,
वह अजानता की सुन्दरता
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन!

—'बालापन'

दिखा भंगिमय भृकुटि-विलास
उपलों पर बहुरंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास
फूलो के कूलों पर चल !

—'निर्झरी'

प्रकृति रानी ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से हमारे कवि के गीतों में अपने सरल सौन्दर्य का प्रसार किया है।

उसकी ऐसी कविताएँ उस वनबाला शकुन्तला की तरह मनोहर हैं, जिसका हृदय सुन्दर, स्निग्ध और स्नेहार्द्र है—जो प्रकृति के अंचल में ही खेली और खिली है, जिसकी स्निग्ध वेणी में वसन्त के समस्त सुरभित पुष्प गुँथे हुए हैं, और जो विस्मय एवं कौतूहल की आँखों से वासन्ती के वैभव को देखती है, तथा उसीमें अपनापन मिला देती है। उसकी ममता वन की लता, पुष्प, खग, मधुकर तथा अपनी ही जैसी भोली सखियों के साथ बँधी हुई है।

यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपने मनोरम विषय के अनुकूल ही भाषा के रूप में उसे अपने हृदय का सुन्दरतम आच्छादन प्रदान करता। पन्त ने ही प्रथम-प्रथम खड़ी बोली की खुरदरी भाषा को अधिक से अधिक स्निग्ध, सुन्दर एवं सरस रूप देने का कोमल प्रयास किया। "उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो किसी

तरह भी मर नहीं सकता। उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो गयी है।...... हिन्दी के निष्ठुर शब्दों को वे इसीलिये इतना सरस कर सके हैं।"

भाषा की इस सौन्दर्य्य की सृष्टि के लिये कवि के ही शब्दों में—"जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ-कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में, ढालने के पूर्व, भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है।"—स्वयं कवि ने भी अपनी कविता के लिये ऐसी ही शब्द-साधना की है। भाषा को अर्थ के अनुरूप ठीक-ठीक शब्द देने के लिये उसने व्याकरण की लोहे की कुरूप कड़ियों में भी एक चमक ला दी है। उसने भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। वास्तव में कवि ही शब्दों को जीवन देता है; वैयाकरण नहीं। ऋतु की तरह कवि शब्द-पुष्पों को जन्म देता है; वैयाकरण वैज्ञानिकों की तरह उसका निरीक्षण एवं अनुशीलन कर एक नियम पर पहुँचते हैं। प्रकृति-सृष्टि की नित नूतनता कभी-कभी वैज्ञानिकों को भी अपने नियम में संशोधन करने को बाध्य करती है।

पन्त ने अपनी कविता में व्याकरण की कठिन कड़ियाँ तो तोड़ी ही हैं; साथ ही उन्होंने काव्य के अनुरूप भाषा को सुष्ठु रूप देने के लिये 'और' के स्थान पर 'औ' तथा यत्र-तत्र

अर्थ-द्योतक प्रान्तीय शब्दों का भी एकाध प्रयोग किया है। वे अपने स्थान पर इस प्रकार फिट हो गये हैं, जैसे, उनके स्थान पर किसी दूसरे की ड्यूटी हो ही नहीं सकती। पन्त ने शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग पाद-पूर्ति के लिये नहीं किया है। वे उन पद्यकारों में नहीं हैं, जिनके कवित्व की इतिश्री पद-पूर्ति तक ही है; 'प्रभात' को स्त्रीलिंग लिखनेवाला कवि, 'की' के बदले 'का' लिखकर सहज ही व्याकरण की रक्षा करते हुए ज्यों की त्यों मात्रा की पूर्ति कर सकता है; किन्तु वह ऐसा नहीं करता। इसमें जो शब्दों के प्रति, उनकी सहृदय-दृष्टि छिपी है, इसी दृष्टि को लेकर ही वह हमारे काव्य-साहित्य में अपना मनोरम स्थान बना सका है। कवि ने 'पल्लव' की विस्तृत भूमिका में शब्द, छन्द, संगीत, अलंकार, व्याकरण, इन सभी काव्यांगों पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। अतएव, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

पन्त के लिये एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्त्त रूप रखते हैं; इसीलिये हम उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। यथा—प्रहसित, विहसित, स्मित। इसी प्रकार—पुरातीन, प्राचीन। प्रिय, 'प्रि'। शब्दों की उपयुक्तता, भाव के लिये उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्ययिता पन्त के भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं तो एक शब्द से ही सम्पूर्ण कविता प्राणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक

वाक्य मे ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

यों तो पन्तजी सन् १९१५-१६ से कविताएँ लिख रहे हैं। उस समय की कविताएँ अलमोड़े से प्रकाशित होनेवाली हस्त-लिखित और मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं में (यदि वे सुरक्षित मिल सकें तो) देखी जा सकती हैं। बाल-क्रीड़ा-वश लिखी गयी वे कविताएँ, नवयुग के इस उत्कृष्ट युवक कवि की भाषा और भावना के सुरुचिपूर्ण-विकास के अध्ययन के लिये अच्छी सामग्री बन सकती हैं, यद्यपि 'वीणा' से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है; क्योंकि उसमे भी उस किशोर-कण्ठ की वाणी सन्निहित है।

प्रकाश्य रूप से 'सरस्वती' के गंभीर पृष्ठो पर पन्तजी का प्रथम कवि-दर्शन सन् १९१९ मे मिलता है। उन दिनों पूज्यचरण द्विवेदीजी ही उसके सम्पादक थे। उन्होंने ही नवीन युग के इस नवीन कवि की 'स्वप्न' शीर्षक कविता प्रथम बार छापी थी। इसके बाद, सन् १९२३-२४ से हिन्दी-ससार को कवि की ज्योतिर्म्मयी प्रतिभा के दर्शन अनवरत रूप से मिलते जा रहे हैं।

सन् १९१८ से '३२ तक लिखी गयीं कवि की कविताओ के चार संग्रह—'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', प्रकाशित हो चुके हैं। 'वीणा' और 'ग्रन्थि', पन्तजी की किशोर-कृतियाँ हैं, 'पल्लव' तरुणकृति है और 'गुंजन' प्राय प्रौढ़। जीवन के साथ-साथ कवि के हृदय मे कला की भावनाओ का भी जैसे-जैसे विकास होता गया है, उसके अनुरूप ही इन कृतियो में पन्तजी

की अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रमिक परिचय मिलता है।

'वीणा' यद्यपि भाषा की दृष्टि से 'पल्लव' के स्टैन्डर्ड की नहीं; किन्तु वह खड़ी बोली के उस आरंभिक युग में भावों की गूढ़ता और शैली की नवीनता का श्रीगणेश करती है। अपने आरम्भिक कवि-जीवन में पन्त ने सरोजनी नायडू और रवीन्द्रनाथ की कविताओं से स्फूर्ति प्राप्त की थी। इसके बाद शेली इत्यादि अँग्रेजी कवियों से। इसीलिये, उनकी कृतियों में हिन्दी की परम्परागत शैली का ही नहीं, बल्कि एक व्यापक काव्य-कला का समावेश है। भाषा और भाव की रंगीन शैली ने पूरब के काव्य-क्षितिज को मानो पश्चिम के सान्ध्य वर्ण इन्द्र-धनुष से अनुरंजित कर दिया है।

'ग्रन्थि' में कवि बहुत-कुछ हिन्दी-कविता की परम्परागत शैली पर चला है। उसकी पंक्तियों में आलंकारिकता और उक्ति-प्रधान है। उसकी भावुकता कालिदास के 'रघुवंश' से भी प्रभावित है। अलंकारों और उक्तियों ने कवि के नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखलायी है। इस छोटे-से प्रेम-काव्य में एक विफल-प्रणय तरुण-हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है; साथ ही ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव-वय का विद्रोह भी। उस सम्पूर्ण वेदना के भीतर भी कवि करुणा की एक साँस लेकर अपने ही आप में संतुष्ट हो जाना चाहता है —

"शैवलिनी! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को;

चद्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय सब भाँति तू कगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।"

उस मर्म्माहत हृदय ने ही 'आँसू' में कहा था—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान।"

'ग्रन्थि' के बाद 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कवि के प्रेम-काव्य हैं। इन काव्यों में 'ग्रन्थि' की अलकार-प्रधानता नहीं, बल्कि वह इन्हींमें भावाभिव्यक्ति का नूतन स्वावलम्बी पथ लेकर प्रकट हुआ। इन काव्यो में प्रेम की भावाभिव्यक्ति होते हुए भी, वह किन्हीं प्रत्यक्ष घटनाओं पर अवलम्बित नहीं। जिस परोक्ष हार्दिक अनुभूति को लेकर कलाकार कथा-सृष्टि करता है, वही अनुभूति इन कल्पना-प्रसूत काव्यो में अन्तर्हित है। नैनीताल के एक पर्वत-प्रान्तर में किसी सरल-हृदय भोली बालिका को देखकर—("वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर")—कवि ने मानवी और प्राकृतिक सौन्दर्य का एक प्रकृत संसार 'उच्छ्वास' मे निर्म्मित कर दिया है—'आँसू' उसीका उत्तरार्द्ध है।

'पल्लव' की अनेक सौदर्यपूर्ण कविताओ के अतिरिक्त 'गुञ्जन' मे 'नौका-विहार', 'एक तारा' पन्त के उत्कृष्टतम प्रकृति-चित्र हैं।

जीवन के प्रारम्भिक चरणो मे मानव-हृदय स्वभावत: सौदर्य और प्रेम की कल्पनाप्रधान अभिव्यक्ति के लिये ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत रहती है। इसके बाद, ज्यो-ज्यो उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है, त्यों-त्यो वह आत्मरूप के चिन्तन मे निमग्न होने लगता है। 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के कवि मे भी यही परिवर्तनशील प्रकृति है। 'पल्लव' की कल्पनामूलक कविताओ मे जितनी ही अलंकृत छवि है, 'गुञ्जन' की विचारात्मक कविताओ मे शशि-कला की-सी उतनी ही निरलंकृत सरलता। 'पल्लव' में रंगीन कला की प्रधानता है। हाँ, 'गुञ्जन' मे भी पन्तजी उस कला का मोह नहीं छोड़ सके है। 'पल्लव' की अलंकृत रुचि ने, 'चाँदनी', 'अप्सरा' आदि ऐसी ही कविताओं मे उनके पूर्व कवि-रूप को प्रकट कर दिया है; परन्तु 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे कवि ने अखिल जीवन के बहिरंग और अंतरंग पर जो व्यापक दृष्टिपात किया है, 'गुञ्जन' मे प्राय: वही अन्तर्दृष्टि जगजीवन के मर्म मे प्रवेश करने के लिये उत्कंठातुर है। यथा—

"शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल-चचल!
सोये वीणा के सुर

क्यों मधुर स्पर्श से मरमर
बज उठते प्रतिपल, प्रतिपल ?

आशा के लघु अंकुर
किस सुख से फड़काकर पर
फैलाते नवदल पर दल ?

मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल ?

मैं चिर उत्कंठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन-मुग्ध किसके बल ?"

यह उत्कंठा, यह जिज्ञासा ही कवि को, अनजाने, आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर कर रही है।

एक दिन निखिल विश्वछवि ने अपने मधुर आकर्षण से 'पल्लव' के कवि को मृदु मदिर कल्पनाओं मे विभोर कर दिया था। आज उसी प्रकार 'गुञ्जन' के कवि को अखिल जगजीवन अपने अन्तःस्वरूप में तन्मय कर रहा है। विश्व-सौन्दर्य ने उसे केवल भावुक बना दिया था, विश्व-जीवन ने उसे जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है। 'पल्लव' में कवि कहता है—

इस अनुपम, सुन्दर छवि से
मैं आज सजा लूँ निज मन,

अपलक अपार चितवन पर
अर्पण कर दूँ निज यौवन।

परन्तु 'गुञ्जन' में—

अधरों पर मधुर अधर धर
कहता मृदु स्वर में जीवन,
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन धन!
पुलकों से लद जाता मन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन,
ना, मुझे इष्ट है साधन!
इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन।
जीवन की इच्छा है छल,
इच्छा जीवन का जीवन।

इन पंक्तियों मे कवि की वर्तमान आन्तरिक प्रगति का स्रोत है। भविष्य मे कवि की काव्यमयी भावनाएँ किस दिशा की ओर अग्रसर होंगी, संभवत· उक्त पंक्तियो से इसका कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है।

कवि की सम्पूर्ण कृतियों मे 'गुञ्जन' की कविताएँ ही अपनी दार्शनिक गूढ़ता के कारण अपने स्पष्टीकरण के लिये अधिक स्थान चाहती हैं।

'गुञ्जन' की जीवन-सम्बन्धी कविताओं के मर्म्म मे पहुँचने के लिये हमें 'ज्योत्स्ना' के क्षीर-सागर में अवगाहन करना होगा। 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों एक दूसरे को समझने की कुञ्जी हैं। गुञ्जन की कविताओं में कवि ने जो कुछ कहना चाहा है, उसे ही मानो 'ज्योत्स्ना' में दृश्यात्मक कर दिया है।

इस कठोर भौतिक युग के प्रतिकार के लिये 'ज्योत्स्ना' कहती है—"मनुष्य को यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि और अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है।" यही बात कवि ने 'गुञ्जन' में यों कही है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदुस्पन्दन!

'ज्योत्स्ना' मे कल्पना कहती है—"संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिये उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को

उदासीन होकर, मनुष्य अपनी आत्मा के लिये नवीन कारा निर्मित कर रहा है।"

'गुञ्जन' के कवि की दृष्टि से वह 'आन्तरिक जीवन' क्या है?—

"आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता,
जल जल है, लहर लहर रे
गति गति, सृति सृति चिरभरिता।
अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरन्तन!
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन!"

जीवन को इस सूक्ष्म दृष्टि से ग्रहण करके ही कवि निश्चिन्तता-पूर्वक कहता है—

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

आत्मचितन-पूर्वक जीवन के गम्भीर अन्तस्तल मे निमग्न हो जाने पर जीवन की प्रत्येक परिस्थितियाँ छोटी-बड़ी लहरो की तरह ही प्रिय हो जाती हैं।

जीवन के अन्तस्तल मे पैठने का यही निर्देश एक बुदबुद भी दे जाता है—

"कॅप-कॅप हिलोर रह जाती
रे, मिलता नहीं किनारा,
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।"

जीवन के अन्तस्तल मे बूडना 'ज्योत्स्ना' के लेखक के 'आन्तरिक जीवन' को प्राप्त करना है—जो कि सुख-दुःख से ऊपर मन का एकमात्र अवलम्बन है। जो आन्तरिक जीवन मे डूब चुका है, वही 'गुञ्जन' के स्वर मे स्वर मिलाकर कह सकता है—

"यह जीवन का है सागर,
जग जीवन का है सागर
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका
प्रिय प्रि' आह्लाद रे इसका।"

'ज्योत्स्ना' के कुमार के शब्दों मे—"हम जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार-रूप मे नही।"

जीवन को सार-रूप मे ग्रहण करने पर यही संसार स्वर्ग हो जाता है, यही मानव देवता। 'ज्योत्स्ना' का ही एक गीत—

"न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बॉहो में

बन्धनों में ही 'विदेह' की तरह निर्मुक्त रहने मे जीवन का सौन्दर्य्य है। जीवन को इसी निर्लिप्त दृष्टि से देखकर ही कवि ने 'गुञ्जन' मे गाया है—

"सुन्दर - सुन्दर जग - जीवन।"

और भी— "मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मै इच्छा से उन्मन, उन्मन!
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिये विश्व को नवजीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन!"

इन भावनाओं मे पन्तजी एक आदर्शवादी कलाकार हैं। परन्तु, उनके आदर्श और 'नवजीवन' का स्वरूप परम्परागत नहीं, 'ज्योत्स्ना' के शब्दो मे—

"आदर्श चिरन्तन अनुभूतियो की अमर प्रतिमाएँ हैं। वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता, उन्हे निरपेक्षत. मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं, वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष

मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिये असीम हैं। देश, काल, समाज आदर्श की सीमाएँ हैं, सार नहीं; उनके इतिहास हैं, तत्व नहीं।" इन शब्दों-द्वारा लेखक, देश-काल की रूढ़ियो में जकड़े हुए आदर्शों को आदर्श नहीं मानता। उसका आदर्श तो विश्व-जीवन को देश-काल से परे उठाकर एक में मिला देनेवाला है।

"आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते है।" इसीलिये, 'ज्योत्स्ना' में हेनरी कहता है—"प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग (Positive Negative Attitudes) सदैव ही रहेगे, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं, पहला भोक्ता के लिये, दूसरा द्रष्टा के लिये, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।"

कवि ने 'ज्योत्स्ना' में नवजीवन का जो स्वप्न देखा है, वह यह कि—"संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय और यह सृष्टि प्रेम की पलकों मे, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य्य का स्वप्न बन जाय!" क्योंकर ?—'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दो में—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल-प्रतिमा मे पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एव अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षत· परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और "इसीलिये इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है, पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।" अपने इन्ही विचारो को पन्त ने इधर प्रकाशित अपने 'युगान्त' और 'युगवाणी' मे काव्य-रूप दिया है।

पन्त की 'गुञ्जन' की दार्शनिक कविताओं में भी भाव और ज्ञानपक्ष दोनों साथ-साथ हैं; अतएव जहाँ एक ओर उनका भाव-सौन्दर्य्य हृदय के लिये सहज गम्य है, वहाँ दूसरी ओर विचार-पक्ष मस्तिष्क से बौद्धिक शक्ति का तकाजा करता है।

निरालाजी विशेष रूप से हमारे साहित्य में सन् १९२३ में आये—उस राष्ट्रीय उथल-पुथल के युग में ही उन्होंने साहित्यिक उथल-पुथल की थी। उन्हीं दिनों कलकत्ते से साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' प्रकाशित हुआ था। उसीमें दो-तीन वर्ष तक अविराम, धारावाही रूप से आपकी कविताएँ रंगीन मुखपृष्ठ पर प्रति सप्ताह प्रकाशित होती रहीं। उन रंगीन मुखपृष्ठों ने हिन्दी-कविता में भी एक निराला रंग ला ही दिया। मुझे वे दिन याद हैं जब एक ओर वर्षों के संचित उत्साह से मानो बाँध तोड़कर निर्बन्ध निर्झर की भाँति उसका काव्य-प्रवाह उमड़ता हुआ बह रहा था, दूसरी ओर विकट आलोचनाओं के शिलाखण्ड उस गति का उपहास कर रहे थे। उन दिनों प्रथम-प्रथम निराला के उन्मुक्त काव्य-पुलिनों पर हम तीन अबोध खद्योतों—( मैं, पद्म और बिजय )—ने ही अपनी क्षीण आभा का परिचय दिया था। तब से कितने वर्ष बीत गये, और आज, निराला की कविताएँ हमारे गंभीर विचार की सामग्री हैं।

निराला की कविताओं में संस्कृत की आत्मा, हिन्दी का कलेवर और बँगला का आच्छादन तथा अंग्रेजी की लाक्षणिकता है। इसीलिये, यदि उसमें एक ओर आर्य्य संस्कृति की प्राण-

प्रतिष्ठा है तो दूसरी ओर बँगला तथा अंग्रेजी की विकसित काव्यकला की अभिव्यक्ति।

निराला की कविताओं में भावों का विकास बड़े ही क्रमिक ढंग से होता है—जिस प्रकार फिल्म मे प्रत्येक पद-निक्षेप का स्पष्ट परिचय मिलता है, उसी प्रकार उनके काव्यचित्रों मे भी। 'सन्ध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

पन्तजी यदि शब्दों की ध्वनि से भावों को मूर्त्त रूप दे देते हैं तो निरालाजी वाक्यों के प्रवाह से वातावरण को।

दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण, निरालाजी की कविताओं में विषय-प्रतिपादन की अंकगणित-सी सचेष्टता भी दीख पड़ती है। यह सचेष्टता वेदान्ती कविताओं में तार्किक रूप में प्रकट हुई है तो किन्हीं प्राकृतिक कविताओं मे भौगोलिक रूप मे। इसी कारण 'वन-कुसुमों की शैय्या' शीर्षक कविता की आरंभिक भूमिकापूर्ण पंक्तियाँ भौगोलिक-सी हो गयी हैं। उनकी कई कविताओं में ऐसा जान पड़ता है मानो पाण्डित्य ने कला का पाणिग्रहण किया है।

कवि की कविताओं में यत्र-तत्र सांसारिक अनुभवों के भी उद्‌गार हैं, उनमे एक ओर करुणा की कोमल साँस है तो दूसरी ओर हृदय का दुर्द्धर्ष विद्रोह। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'स्वप्न-स्मृति' में 'कवि-हृदय के करुणतम चित्र' हैं, तो 'आवाहन', 'जागो फिर एक वार', 'महाराज शिवाजी का पत्र', में उसके भैरवी भाव। रसोद्रेक में कवि की लेखनी सक्षम है। कवि की जो लेखनी एक ओर कापुरुषता को ललकारकर कहती है :—

"जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु - नद-तीरवासी !—
सैन्धव तुरङ्गों पर
चतुरङ्ग चमूसङ्ग ;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

वही लेखनी खूब छककर मधु में घुली "होली" के शृंगाररस में रँगरेली भी करती है।

सम्पूर्ण लौकिक रसों के ऊपर कवि का अलौकिक वेदान्त रस है। और अपने मुक्त छंद की भाँति ही मानव को वह उसके मुक्त स्वरूप का भी स्मरण दिलाता रहता है—

"मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप।"

निरालाजी ने अपने निर्बन्ध छंद के अतिरिक्त बन्धनमय छंदों मे भी अपने कवित्त्व का मनोहर परिचय दिया है—'यमुना' और 'स्मृति' के अतिरिक्त 'वासन्ती' एवं 'वसन्त-समीर' मे उनका

मधुर भाव-संगीत है। आपकी कुछ गीति-कविताएँ भी मनोहर हैं। हिन्दी मे इन दिनो, शताब्दियो बाद, फिर गीतिकाव्य की सृष्टि हो रही है; अतएव उसके सम्बन्ध मे यहाँ दो शब्द—

रवि बाबू की गीताञ्जलि को जब हम गुनगुनाते हैं, तब यह विचार हमारे हृदय मे उठता है कि गीतो के भाव चाहे जितने ऊँचे अथवा रहस्यमय हों; किन्तु शब्द और गीत सहज प्रवाह-शील होने चाहिये। संगीत ही तो हृदय की एक ऐसी प्रिय वाणी है, जहाँ हमें भावों के सरोवर मे कुछ देर तीर्थ-स्नान करने का सुयोग मिलता है। गीतों मे अधिक सामासिक शब्द भार-स्वरूप हो जाते हैं और उनका प्रवाह रुक्ष एव रुद्ध हो जाता है।

कविताओं के अतिरिक्त निरालाजी ने कहानियाँ, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे है। निस्संदेह निरालाजी मे कथा-सृष्टि की भी सुन्दर क्षमता है, किन्तु आपका गद्य क्लिष्ट न होते हुए भी प्रायः अस्पष्ट हो जाता है, मानो कुहरे के धूमिल आच्छादन मे उनके कला की किरणे फूट रही हों। 'प्रसाद' की तरह सम्भवत. उनकी भाषा भी 'मूड' के अनुसार ही चलती है। जहाँ कहीं भाषा अपनी सुन्दरता मे निखर पडी है, वहाँ वह उनके अच्छे 'मूड' का द्योतक है। आप एक ललित-कण्ठ गायक और वादक हैं; व्याख्यानदाता भी।

आपके 'परिमल' नामक काव्य-सग्रह से पाठक परिचित ही हैं। इधर आपकी कुछ और कविता पुस्तके प्रकाशित हुई है—गीतिका, अनामिका, तुलसीदास। कथा-कृतियाँ ये हैं—अप्सरा,

पन्तजी मुख्यतः प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि हैं। मनुष्यों की भाँति ही प्रकृति का भी अपना एक संसार है—मानव-जग की भाँति ही उसका भी एक रूप-लावरय, हास-विलास, क्रीड़ा-कौतूहल है। उसी-प्राकृतिक विश्व की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लीलाओं तथा उसके एक-एक नयनाभिराम दृश्यों का पन्त की कविताओं मे अलबम है।

हमारे कवि के जन्म के दिन ही उसके नन्हें कोमल हाथों से माँ का स्नेहांचल छूट गया था। मातृ-विछोह की वही अज्ञात अनुभूति मानो कवि की इन पंक्तियों मे है—

"खोलता इधर जन्म लोचन।
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण।"

परन्तु, उस मातृ-अंचल के करुण अभाव मे भी प्रकृति-जननी ने अपने स्नेह-स्पर्श से उसके हृदय को सजल मधुर कर दिया।

मनुष्य जब संसार को मा की गोद में बैठकर देखता है, तभी वह कवि हो जाता है। वह मा कौन है?—गोद में लेकर हलराने दुलरानेवाली वह वात्सल्यमयी जननी ही केवल मा नही है। वह तो जगज्जननी प्रकृति की एक प्रतिनिधि-मात्र है, जो अपनी अमृत-घूँटी पिलाकर उस विश्व-जननी की सरसता, मधुरता, सुन्दरता हमारे हृदयों और प्राणों मे भर देती है। किन्तु, मनुष्य ज्यो-ज्यों वयस्क होता जाता है, उसकी आँखों पर धीरे-धीरे भौतिकता का मोटा पर्दा पड़ता जाता है, और उसकी स्थूल दृष्टि उस चिर-आनन्दमयी प्रकृति-जननी को भूल जाती है। कवि

उस लोक-कल्याणी को नहीं भूलता। वह उसकी स्नेह-गोद में चिरन्तन एक नित्य नवीन शिशु की तरह खेला करता है। वह ऐसे गीत गाता है, जिनमें प्रकृति के प्रेम और सौन्दर्य का सन्देश रहता है। उसे सुनकर कठोर पत्थरों से उठी हुई आडम्बर पूर्ण अट्टालिकाओं से विरत होकर सांसारिक जन प्रकृति के कछारों और, कुंजों में अपने सतप्त हृदय को सुशीतल करने के लिये दौड़ पड़ते हैं। यदि प्रकृति के ये लाड़ले शिशु (कवि) कभी-कभी संतप्त संसार में अपनी हिम-जल-जैसी शीतल वाणी न ढुलका देते, तो आज विश्व का कोना-कोना लाक्षागृह की तरह ही प्रज्ज्वलित होकर भस्मसात् हो जाता।

बचपन से ही कवि के सौन्दर्यप्रिय हृदय को, प्रकृति और कला अपनी ओर खींच लेती थीं, मानो वे अपने इस सजातीय को उसी समय से पहचान गयी थीं। बाल्यकाल में वह नदी के रंग-बिरंगे पत्थरों से खेला करता था। प्रकृति के उस मनोरम सौन्दर्य-तट पर उसके कौतूहलपूर्ण हृदय में कला अज्ञात भाव से अपनी छवि बिखेर रही थी। शायद बाल्यक्रीडा की वही भोली स्मृति आज भी कवि की आँखों में अंकित है—

सरिता के चिकने उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रगीन,
वह अजानता की सुन्दरता
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन!

—'बालापन'

दिखा भंगिमय भृकुटि-विलास
उपलों पर बहुरंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास
फूलों के कूलों पर चल!

—'निर्झरी'

प्रकृति रानी ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से हमारे कवि के गीतों में अपने सरल सौन्दर्य का प्रसार किया है।

उसकी ऐसी कविताएँ उस वनबाला शकुन्तला की तरह मनोहर है, जिसका हृदय सुन्दर, स्निग्ध और स्नेहार्द्र है—जो प्रकृति के अंचल में ही खेली और खिली है, जिसकी स्निग्ध वेणी में वसन्त के समस्त सुरभित पुष्प गुँथे हुए हैं, और जो विस्मय एवं कौतूहल की आँखों से वासन्ती के वैभव को देखती है, तथा उसीमें अपनापन मिला देती है। उसकी ममता वन की लता, पुष्प, खग, मधुकर तथा अपनी ही जैसी भोली सखियों के साथ बँधी हुई है।

यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपने मनोरम विषय के अनुकूल ही भाषा के रूप में उसे अपने हृदय का सुन्दरतम आच्छादन प्रदान करता। पन्त ने ही प्रथम-प्रथम खड़ी बोली की खुरदरी भाषा को अधिक से अधिक स्निग्ध, सुन्दर एवं सरस रूप देने का कोमल प्रयास किया। "उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो किसी

तरह भी मर नहीं सकता। उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो गयी है।...... हिन्दी के निष्ठुर शब्दों को वे इसीलिये इतना सरस कर सके हैं।"

भाषा की इस सौन्दर्य्य की सृष्टि के लिये कवि के ही शब्दों में—"जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में, ढालने के पूर्व, भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है।"—स्वयं कवि ने भी अपनी कविता के लिये ऐसी ही शब्द-साधना की है। भाषा को अर्थ के अनुरूप ठीक-ठीक शब्द देने के लिये उसने व्याकरण की लोहे की कुरूप कड़ियों में भी एक चमक ला दी है। उसने भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। वास्तव में कवि ही शब्दों को जीवन देता है, वैयाकरण नहीं। ऋतु की तरह कवि शब्द-पुष्पों को जन्म देता है; वैयाकरण वैज्ञानिकों की तरह उसका निरीक्षण एवं अनुशीलन कर एक नियम पर पहुँचते हैं। प्रकृति-सृष्टि की नित-नूतनता कभी-कभी वैज्ञानिकों को भी अपने नियम में संशोधन करने को बाध्य करती है।

पन्त ने अपनी कविता में व्याकरण की कठिन कड़ियाँ तो तोड़ी ही हैं; साथ ही उन्होंने काव्य के अनुरूप भाषा को सुष्ठु रूप देने के लिये 'और' के स्थान पर 'औ' तथा यत्र-तत्र

अर्थ-द्योतक प्रान्तीय शब्दों का भी एकाध प्रयोग किया है। वे अपने स्थान पर इस प्रकार फिट हो गये हैं, जैसे, उनके स्थान पर किसी दूसरे की ड्यूटी हो ही नहीं सकती। पन्त ने शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग पाद-पूर्ति के लिये नहीं किया है। वे उन पद्यकारों में नहीं हैं, जिनके कवित्व की इतिश्री पद-पूर्ति तक ही है, 'प्रभात' को स्त्रीलिंग लिखनेवाला कवि, 'की' के बदले 'का' लिखकर सहज ही व्याकरण की रक्षा करते हुए ज्यों की त्यों मात्रा की पूर्ति कर सकता है, किन्तु वह ऐसा नहीं करता। इसमें जो शब्दों के प्रति, उनकी सहृदय-दृष्टि छिपी है, इसी दृष्टि को लेकर ही वह हमारे काव्य-साहित्य में अपना मनोरम स्थान बना सका है। कवि ने 'पल्लव' की विस्तृत भूमिका में शब्द, छन्द, संगीत, अलंकार, व्याकरण, इन सभी काव्यांगों पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। अतएव, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

पन्त के लिये एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्त्त रूप रखते हैं; इसीलिये हम उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। यथा—प्रहसित, विहसित, स्मित। इसी प्रकार—पुराचीन, प्राचीन। प्रिय, 'प्रि'। शब्दों की उपयुक्तता, भाव के लिये उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्ययिता पन्त के भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं तो एक- शब्द से ही सम्पूर्ण कविता प्राणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक

वाक्य मे ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

यों तो पन्तजी सन् १९१५-१६ से कविताएँ लिख रहे हैं। उस समय की कविताएँ अलमोड़े से प्रकाशित होनेवाली हस्त-लिखित और मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं में ( यदि वे सुरक्षित मिल सकें तो ) देखी जा सकती है। बाल-क्रीड़ा-वश लिखी गयी वे कविताएँ, नवयुग के इस उत्कृष्ट युवक कवि की भाषा और भावना के सुरुचिपूर्ण-विकास के अध्ययन के लिये अच्छी सामग्री बन सकती है, यद्यपि 'वीणा' से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, क्योंकि उसमे भी उस किशोर-कण्ठ की वाणी सन्निहित है।

प्रकाश्य रूप से 'सरस्वती' के गंभीर पृष्ठो पर पन्तजी का प्रथम कवि-दर्शन सन् १९१९ मे मिलता है। उन दिनो पूज्यचरण द्विवेदीजी ही उसके सम्पादक थे। उन्होंने ही नवीन युग के इस नवीन कवि की 'स्वप्न' शीर्षक कविता प्रथम बार छापी थी। इसके बाद, सन् १९२३-२४ से हिन्दी-ससार को कवि की ज्योतिर्म्मयी प्रतिभा के दर्शन अनवरत रूप से मिलते जा रहे हैं।

सन् १९१८ से '३२ तक लिखी गयी कवि की कविताओ के चार संग्रह—'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', प्रकाशित हो चुके हैं। 'वीणा' और 'ग्रन्थि', पन्तजी की किशोर-कृतियाँ हैं, 'पल्लव' तरुणकृति है और 'गुंजन' प्राय: प्रौढ़। जीवन के साथ-साथ कवि के हृदय मे कला की भावनाओं का भी जैसे-जैसे विकास होता गया है, उसके अनुरूप ही इन कृतियो में पन्तजी

की अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रमिक परिचय मिलता है।

'वीणा' यद्यपि भाषा की दृष्टि से 'पल्लव' के स्टैन्डर्ड की नहीं; किन्तु वह खड़ी बोली के उस आरंभिक युग में भावों की गूढ़ता और शैली की नवीनता का श्रीगणेश करती है। अपने आरम्भिक कवि-जीवन में पन्त ने सरोजनी नायडू और रवीन्द्रनाथ की कविताओं से स्फूर्ति प्राप्त की थी। इसके बाद शेली इत्यादि अँग्रेजी कवियों से। इसीलिये, उनकी कृतियों में हिन्दी की परम्परागत शैली का ही नहीं, बल्कि एक व्यापक काव्य-कला का समावेश है। भाषा और भाव की रंगीन शैली ने पूरब के काव्य-क्षितिज को मानो पश्चिम के सान्ध्य वर्ण इन्द्र-धनुष से अनुरंजित कर दिया है।

'ग्रन्थि' में कवि बहुत-कुछ हिन्दी-कविता की परम्परागत शैली पर चला है। उसकी पंक्तियों में आलंकारिकता और उक्ति-प्रधान है। उसकी भावुकता कालिदास के 'रघुवंश' से भी प्रभावित है। अलंकारों और उक्तियों ने कवि के नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखलायी है। इस छोटे-से प्रेम-काव्य में एक विफल-प्रणय तरुण-हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है, साथ ही ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव-वय का विद्रोह भी। उस सम्पूर्ण वेदना के भीतर भी कवि करुणा की एक साँस लेकर अपने ही आप में संतुष्ट हो जाना चाहता है —

"शैवलिनी! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को;

चद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा ।
पर, हृदय सब भाँति तू कगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी ।"

उस मर्म्माहत हृदय ने ही 'आँसू' में कहा था—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान ।"

'ग्रन्थि' के बाद 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कवि के प्रेम-काव्य हैं। इन काव्यों में 'ग्रन्थि' की अलकार-प्रधानता नहीं, बल्कि वह इन्हींमें भावाभिव्यक्ति का नूतन स्वावलम्बी पथ लेकर प्रकट हुआ। इन काव्यो में प्रेम की भावाभिव्यक्ति होते हुए भी, वह किन्हीं प्रत्यक्ष घटनाओं पर अवलम्बित नहीं। जिस परोक्ष हार्दिक अनुभूति को लेकर कलाकार कथा-सृष्टि करता है, वही अनुभूति इन कल्पना-प्रसूत काव्यो में अन्तर्हित है। नैनीताल के एक पर्वत-प्रान्तर में किसी सरल-हृदय भोली बालिका को देखकर—("वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर")—कवि ने मानवी और प्राकृतिक सौन्दर्य का एक प्रकृत संसार 'उच्छ्वास' मे निर्म्मित कर दिया है—'आँसू' उसीका उत्तरार्द्ध है।

बन्धनों में ही 'विदेह' की तरह निर्मुक्त रहने में जीवन का सौन्दर्य्य है। जीवन को इसी निर्लिप्त दृष्टि से देखकर ही कवि ने 'गुञ्जन' मे गाया है—

"सुन्दर - सुन्दर जग - जीवन।"

और भी— "मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मै इच्छा से उन्मन, उन्मन!
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिये विश्व को नवजीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन!"

इन भावनाओं मे पन्तजी एक आदर्शवादी कलाकार है। परन्तु, उनके आदर्श और 'नवजीवन' का स्वरूप परम्परागत नहीं, 'ज्योत्स्ना' के शब्दो में—

"आदर्श चिरन्तन अनुभूतियो की अमर प्रतिमाएँ हैं। वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता, उन्हे निरपेक्षत. मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं, वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष

मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिये असीम हैं। देश, काल, समाज आदर्श की सीमाएँ हैं, सार नहीं, उनके इतिहास हैं, तत्व नहीं।" इन शब्दों-द्वारा लेखक, देश-काल की रूढ़ियों में जकड़े हुए आदर्शों को आदर्श नहीं मानता। उसका आदर्श तो विश्व-जीवन को देश-काल से परे उठाकर एक मे मिला देनेवाला है।

"आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं।" इसीलिये, 'ज्योत्स्ना' में हेनरी कहता है—"प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग (Positive Negative Attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनो ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं, पहला भोक्ता के लिये, दूसरा द्रष्टा के लिये, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।"

कवि ने 'ज्योत्स्ना' में नवजीवन का जो स्वप्न देखा है, वह यह कि—"संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय और यह सृष्टि प्रेम की पलको मे, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य्य का स्वप्न बन जाय!" क्योंकर ?—'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दों में—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल-प्रतिमा मे पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर मे भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षत: परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और "इसीलिये इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है, पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।" अपने इन्हीं विचारों को पन्त ने इधर प्रकाशित अपने 'युगान्त' और 'युगवाणी' मे काव्य-रूप दिया है।

यह यथार्थ और आदर्श अथवा वस्तु-जगत और काव्य-जगत के एकीकरण का प्रयत्न है।

'ज्योत्स्ना' के रूपक में पन्तजी ने हिन्दी-संसार को जो भाव और विचार भेंट किये है, वे कवि-कल्पना की भाँति मनोहर तथा दार्शनिकता की भाँति गहन हैं। 'ज्योत्स्ना' को हम भावो और विचारो की एक डिक्शनरी कह सकते है, जिसमे से एक-एक सूत्र लेकर बहुत-कुछ सोचा-समझा जा सकता है—व्यक्ति, समाज, देश और जीवन एवं कला के सम्बन्ध मे उसमे मननयोग्य उपकरण है।

'ज्योत्स्ना' की लेखन-शैली बिलकुल नये ढंग की है। हिन्दी मे अब तक जिस पद्धति पर नाटक और रूपक लिखे गये हैं, उससे यह भिन्न है। इसमें पूर्व और पश्चिम की नाट्यकला का स्वतंत्र एकीकरण है।

इसको देखने पर ज्ञान हो जाता है कि पन्तजी न केवल भावना-लोक मे ही रहते हैं, बल्कि प्रत्यक्ष विश्व की गहन समस्याओं मे भी विचार-मग्न हैं। कविता की सरिता मे सन्तरण करने के बाद सैकत के सूखे तट पर खड़े होकर वे इस संसार को देखना भी नहीं भूलते। यह एक कवि का काव्यमय रूपक है, रूपकमय काव्य है। यह एक दार्शनिक कवि की 'यूटोपिया' है। हम इसे दृश्य, गीत, भाव और विचार की दृष्टि से ग्रहण कर सकते हैं।

'ज्योत्स्ना' के दृश्य—जिनका उसमें विस्तृत निर्देश है—पन्त जो की चित्र-निपुणता को भी प्रकट करते हैं। उनमें उनकी सूक्ष्म-

दर्शिता और सूक्ष्मग्राहिता का दिव्य परिचय मिलता है। अपनी लेखनी की भाँति ही यदि वे तूलिका का भी संचालन कर सकते तो कवि के साथ ही निस्संदेह हम उन्हे एक उच्च कोटि के चित्रकार के रूप में भी देख पाते।

सम्राज्ञी ज्योत्स्ना के रूप में लेखक ने, अखिल व्याप्त, प्रेम-पूर्ण उज्ज्वल विश्वात्मा को प्रतिफलित किया है। मानवविश्व, अपने सम्पूर्ण भेद-भावों को भुलाकर आत्मा के स्नेह-साम्राज्य मे अपने को नियंत्रित कर सके तो वह उस आनन्दमय वातावरण को प्राप्त कर सकता है, जिसे ज्योत्स्ना की सुखद शीतल छाया में पाकर अखिल सृष्टि एक साथ ही उद्भासित हो उठती है। मानव-हृदय की सरल सद्वृत्तियाँ, प्रकृति की कल्याणमयी विभूतियों की भाँति क्रियाशील होकर ही विश्वजीवन को सुख शातिमय बना सकती हैं। सुरभि, पवन, उषा, अरुण, किरण, छाया, तारा, ओस, जुगनू, भृङ्ग, कुसुम, लहर, तितली—ये सब प्रकृति की कल्याणमयी विभूतियाँ हैं। इनके द्वारा बाह्य विश्व मे जो सुख, सौन्दर्य और प्रेम ओत-प्रोत हैं, वही हमारी सरल सद्वृत्तियों द्वारा हमे अपने मन स्वर्ग मे भी उपलब्ध हो सकते है। स्वप्न और कल्पना हमारे इस मन स्वर्ग के सहायक हैं, ये दोनों मानव-हृदय मे सृजन और पालन-शक्तियों का उद्भव करते हैं। विश्व मे जो कुछ सत्य-शिवं-सुन्दरं है, वह कल्पना और स्वप्न के रूप में हमारे मनोलोक में अन्तर्हित है। वही जब क्रिया-रूप मे बाहर आ जाता है तब हम उसे प्रत्यक्ष देखने लगते हैं। ससार अपने मन

के भीतर से ही सुखी और सुंदर बनेगा, बाहर से नहीं,—यही 'ज्योत्स्ना' का प्रतिपादित विषय है।

'ज्योत्स्ना' पन्तजी के कवि-हृदय का प्रथम नाट्योपहार है। कदाचित इसीलिये वह भाव एवं विचार-प्रधान है। आशा है, पन्तजी की अगली नाट्यकृतियो मे जीवन के दुर्द्धर्ष घात-प्रतिघातों के भीतर से 'ज्योत्स्ना' की विचारानुभूतियों का सक्रिय परिचय मिलेगा। 'ज्योत्स्ना' के विचारात्मक वाक्य बहुत लम्बे-लम्बे तथा गुरुगहन हो गये है। संभवत: इसका कारण विषय की निगूढ़ता है। पन्तजी गद्य भी बहुत सुन्दर लिखते हैं। 'पल्लव' का 'प्रवेश' इसका उदाहरण है—चित्रोपम ललित प्रवाहपूर्ण प्राञ्जल भाषा, हिन्दी की गद्य-शैली के विकास में उनकी एक स्वतन्त्र विशेषता रखती है।

'परिवर्त्तन' मे पन्त के दार्शनिक भावों और विचारों का प्रथम रूप है, 'गुंजन' मे प्रस्फुटित रूप। 'परिवर्त्तन' में यत्र-तत्र रवीन्द्र-नाथ का भाव-पक्ष और विवेकानन्द का विचार-पक्ष सम्मिलित है। 'गुजन' में उनकी अपनी ही चिन्तनशील आत्मा का प्रतिबिंब है। 'गुजन' की नयी कविताओ मे—( पहले की किसी कविता को छोड़कर ) पन्तजी एक दार्शनिक है। परन्तु, 'परिवर्त्तन' में दार्शनिक के साथ ही कवि और चित्रकार भी।

'परिवर्त्तन' मे पन्तजी की काव्य-कला-सम्बन्धी सम्पूर्ण विशेषताओ का एकत्र परिचय मिल जाता है। हृदय के विभिन्न रसों के अनुरूप भावनाएँ, भावनाओं के अनुरूप छंद, छंदो के अनुरूप शब्द-योजना, पन्तजी की अपनी विशेषताएँ हैं; और

खड़ी बोली की कविता में वे इन विशेषताओं के प्रथम कवि हैं। उनकी अन्य कविताओं में हम केवल एक रस से ही परिचित हो पाते हैं; परंतु 'परिवर्त्तन' में अनेक रसों से। सुकुमार कल्पनाओं के कवि पन्तजी, 'परिवर्त्तन' में पौरुषमय हो उठे हैं। जहाँ काल की क्रूर लीलाओं का निर्देश है, वहाँ उनकी कोमलांगिनी प्रतिभा के भैरवी-रूप का भी दर्शन मिलता है—मानो नन्दनवन-विहारिणी देवांगना महाकाल के रंगमंच पर अवतीर्ण होकर वीरांगना बन गयी हो। इससे जान पड़ता है, पन्तजी केवल कोमल रसो के ही कवि नहीं, प्रसंगानुसार वे रौद्र, वीर, भयानक रसो का उद्रेक भी भली भाँति कर सकते है। इन भीपण रसों के कारण ही, 'परिवर्त्तन' में करुणा का कारुण्य और भी प्रस्फुटित हो उठा है। निस्सन्देह पन्तजी एक परिपूर्ण कवि हैं—उनकी लेखनी में यदि बूँदों की सहज सजलता है तो उसीमे बाड़व का दाह भी।

जो लोग पन्त के 'पल्लव' की कोमल-पद-माधुरी से परिचित हैं, उन्हें पन्त के 'युगान्त' और 'युगवाणी' मे उस मधुरता का न मिलना एक जिज्ञासा का कारण होना चाहिये। आज संसार की स्थिति क्या है?—अत्याचार और हाहाकार। 'अत' 'पल्लव' के उस मधुरतम कवि का 'गुञ्जन' मे यह कहना स्वाभाविक ही है—

'अपने मधु में लिपटा, पर, कर सकता मधुप न गुञ्जन।'

क्योंकि—

'करुणा से भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन।'

फिर भी—

'हँसमुख से ही जीवन का पर हो सकता अभिवादन।'

यही प्रसन्न मुद्रा हम पन्त के बहिर्व्यक्तित्व मे पाते हैं। पन्त के अतल मे तो लोकमन्थन की हलचल है, बाहर उर्मि-उल्लास। यही उर्मि-उल्लास पन्त की पिछली कृतियों मे है। किन्तु, भीतर की कितनी उथल-पुथल मे पन्त का कृतित्व हमारे अनजाने अब परिवर्तित हो गया है, यह हमारी मनोवैज्ञानिक-सहृदयता के ग्रहण करने की वस्तु है।

पन्त का व्यक्तित्व, पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। उनका सङ्गीतमय सुमधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य, विनम्र और निश्छल वार्तालाप, चिर मोह के प्रबल बन्धन है। दो श्रेष्ठ गुण पूर्ण मनुष्यत्व के है—आत्मविश्वास और निरभिमानता। साथ ही वे दूसरो के स्वाभिमान का सम्मान करते है। यही नहीं, उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि मे व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुॅचने की सुन्दर क्षमता है।

दैनिक जीवन में वे अपने मन पर उतना ही बोझ रखना चाहते हैं, जितने से स्वस्थ रहकर जीवन को जीवन बनाये रह सकें। कवि के साथ ही आप सुललित गायक और मनोहर वाद्यकार भी है, यद्यपि युग के कठोर गद्य ने उनका गायन-वादन अब भविष्य के किसी अन्य कवि-कण्ठ के लिये एक स्वप्न बना दिया है। जन्मकाल सन् १६०० ।

# सुभद्राकुमारी चौहान

"थीं मेरा आदर्श बालपन से तुम मानिनि राधे !
तुम-सी बन जाने को मैंने व्रत नियमादिक साधे ।
अपने को माना करती थी मैं वृषभानु-किशोरी,
भाव-गगन के कृष्णचन्द्र की थी मैं चतुर चकोरी ।"

सुश्री सुभद्राकुमारी की कवितामयी राधा का शृङ्गार, प्रेम और करुणा के सजल मोतियों से हुआ है—उसकी एक दृष्टि में प्रणय का मधु है, दूसरे में सन्तप्तदेश के आँसू। एक ओर उनके प्रणय की उन्मादिनी दृष्टि कहती है—

"मुझे बता दो मानिनि राधे !
प्रीति-रीति वह न्यारी—
क्योंकर थी उस मनमोहन पर
अविचल भक्ति तुम्हारी ?"

अथवा—

"खूनी भाव उठें उसके प्रति जो हो प्रिय का प्यारा,
उसके लिये हृदय यह मेरा बन जाता है हत्यारा ।"

तो दूसरी ओर दीन-दुखियों के सुख-दुख से द्रवीभूत आँखें कहती हैं—

"यह मुरझाया हुआ फूल है
इसका हृदय दुखाना मत,
स्वय बिखरनेवाली इसकी
पंखुड़ियाँ बिखराना मत ।"

सुभद्राकुमारी की कविताएँ दैनिक जीवन को सामने रखकर लिखी गयी हैं ; अतएव उनकी दृष्टि वस्तु-जगत से बाहर नहीं जा सकी है । वे कल्पक नहीं, चित्रक हैं । जीवन के स्थूल आधार पर उनके चित्र निर्भर हैं ।

सुश्री वर्म्मा की कविताएँ यदि अन्तर्जगत की भाँति सूक्ष्म हैं तो सुश्री चौहान की कविताएँ बाह्य विश्व की भाँति प्रत्यक्ष । एक मे यदि आत्मा है तो दूसरे मे कलेवर । एक के लिये यदि यह शरीर-लोक एक सीमापूर्ण बन्धन है तो दूसरे के लिये यह संसार भावना का मुक्त प्रांगण ।

सुभद्राकुमारी की कविताओं मे उर्दू कवियों की-सी भावुकता और वस्तु-जगत के अनुभवों की तीव्रता है । असहयोग आन्दोलन के दिनों मे आपने राष्ट्रीय कविताएँ भी खूब लिखी थीं । 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता आपकी एक उत्तम कृति है । 'वीरों का कैसा हो वसंत' भी—

"वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमाञ्चल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार ।
प्राची पश्चिम भू-नभ अपार,

सब पूछ रहे हैं दिगदिगन्त—
वीरों का कैसा हो वसन्त ?"

राष्ट्रीय पद्यों के अतिरिक्त, प्रणय और वात्सल्य-सम्बन्धी आपकी कुछ कविताएँ भी अपनी स्वाभाविकता में अच्छी बन पड़ी हैं। यथा—

"मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन-सी फूल उठी यह छोटी-सी कुटिया मेरी॥
'माँ-ओ' कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आयी थी।
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में मुझे खिलाने आयी थी।
मैंने पूछा—'यह क्या लाई ?' बोल उठी वह—'माँ काओ'।
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से, मैंने कहा—तुम्हीं खाओ।"

प्रणय-सम्बन्धी कविताओं में 'चलते समय' और 'चिन्ता' शीर्षक कविताएँ सचमुच हृदय में चिकोटी काट लेती हैं। 'मुकुल' आपकी कविताओं का एक सीधा-सादा-सुन्दर संग्रह है। 'त्रिधारा' मे आपकी जो कविताएँ निकली हैं, उनसे जान पड़ता है कि कविता के मूड ने अब आपसे विश्राम ले लिया है और आप कहानियों की ओर अग्रसर हो रही हैं। कल्पना के ह्रास में कवि गद्य की ओर चला ही जाता है। पन्तजी भी गद्य की ओर गये हैं, काव्य के उपादान बदल जाने के कारण; किन्तु सुभद्रा के पद्य में तो शुरू से ही मूलत गद्य-संस्कार है। वे द्विवेदी-युग की शैली की कवयित्री भी हैं। द्विवेदी-युग के अन्य अनेक कवियों की कविता की भाँति उनकी कविता भी एक सीमा पर पहुँचकर

समाप्त हो गयी। हाँ, सुभद्रा मे एक हार्दिक स्वाभाविकता अवश्य है, इसी कारण उसका गद्योन्मुख पद्य यत्र-तत्र मनोरम हो गया है।

इधर आप बच्चों की कविताएँ लिख रही हैं, जिससे आपके वात्सल्य का परिचय मिलता है।

आपको कविता-क्षेत्र मे लाने का श्रेय, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' को है।

जन्म सं० १९६१ में प्रयाग में हुआ।

---

# महादेवी वर्म्मा

"इस अचल क्षितिज-रेखा-से
तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।"

—रश्मि

स्त्री-कवियित्रियों में श्रीमती महादेवी वर्म्मा का स्थान नवीन हिन्दी-कविता-क्षेत्र में प्रथम है। सन्ध्या के आकाश में जिस प्रकार एक तारिका के उदित होते ही क्रमशः अन्य तारिकाओं के दर्शन होने लगते हैं, उसी प्रकार महादेवीजी के बाद अन्य कवियित्रियों के भी दर्शन मिलते जा रहे हैं।

सुश्री वर्म्मा की कविताओं के चार संग्रह क्रमागत ये हैं—(१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा, (४) सान्ध्यगीत। हाल में इन चारों कविता-पुस्तकों का एकत्र संग्रह 'यामा' नाम से प्रकाशित हुआ है, हिन्दी में एक नवीन मुद्रण-विन्यास के साथ।

कवि पन्तजी के शब्दों में—'नीहार' की कवि वस्तु-जगत की अनुभूति नहीं रखतीं, भावना-द्वारा ही वे वस्तुओं को परखती हैं। मेघ-मरुत, पुष्प-लहर आदि सभी इस जगत के उपकरण

मनोवेगों से रंजित होकर उनके सामने आते हैं, मनोराग की आँखों से ही वे उसकी कल्पना करती हैं; इसलिये उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति मे काल्पनिक छाया-रूपों की अस्पष्टता वर्तमान है।"

ऐसे अस्पष्ट कविता-चित्रों के सम्बन्ध मे रवि बाबू ने एक स्थान पर लिखा है—"हमने अपने समस्त जीवन में क्या देखा, क्या समझा, क्या पाया—हम इसे समस्त रूप से स्पष्टतया नहीं बता सकते। कवि लोग भी सम्पूर्णतया बतला सकते हैं, सो बात नहीं है। उनकी भी समस्त वाणी स्पष्ट नहीं होती, सत्य नही होती, सुन्दर नहीं होती। अपनी प्रकृति के गूढ़ तात्पर्य को सम्पूर्णतया प्रकाशित करने में उनका प्रयत्न भी हमेशा सफल नहीं होता। किन्तु, जहाँ उनकी चेष्टाओं का अवसान हो जाता है, वहाँ उनसे भी अलक्षित भाव से एक विश्वव्यापी गूढ़ चेष्टा की प्रेरणा से समस्त बाधाओं और स्पष्टताओं के बीच मे से एक मानस रूप, जिसको 'हम पकड़ने की चेष्टा करते हैं, किन्तु पकड़ नहीं पाते'—स्वयमेव कभी अल्प मात्रा में, कभी अधिक मात्रा में प्रकाशित हुआ करता है।"

महादेवीजी ने भी अपनी भावनाओं में ऐसे ही मानस-रूप को पकड़ने की चेष्टा की है; किन्तु वह इस चेष्टा के परे है; इसीलिये कवि के हृदय में विकलता है—

"मैं फूलों में रोती, वे बालारुण में मुस्काते,
मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।"

इसी भाँति—

"वे आँसू बनकर मेरे इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।
मेघों में विद्युत-सी छवि उनकी बनकर मिट जाती,
आँखों की चित्रपटी में जिसमें मैं आँक न पाऊँ।
वे तारक-बालाओं की अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ।
सोते, सागर की धड़कन बन लहरों की थपकी से,
अपनी यह करुण-कहानी जिसमें उनको न सुनाऊँ।
वे आभा बन खो जाते शशि-किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कन-कन में देखूँ पहचान न पाऊँ।
वे चुपके से मानस में आ छिपते उच्छ्वासें बन,
जिसमें उनको साँसों में ढूँढूँ पर रोक न पाऊँ।
वे स्मृति बनकर प्राणों में खटका करते हैं निशि-दिन,
उनकी इस निष्ठुरता को जिसमें मैं भूल न जाऊँ।"

यह अदृश्य अस्पृश्य मानस-रूप ही उनकी आत्मा का प्रियतम परमात्मा है; अपनी कविता में सर्वत्र उन्होंने उसीके प्रति आत्म-निवेदन किया है। उसीकी सजल स्मृति से पूर्ण आनन्द तथा हास उन्होंने अपने प्राणों में तथा प्रकृति की प्रत्येक दिशा में देखा है।

अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में आपने सामाजिक और राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थीं; किन्तु आपकी प्रतिभा वहीं तक

सामने नहीं रहा। इसके बाद की कविताएँ कल्पना-प्रधान हो गयी। वस्तु-जगत की भावनाओं की जहाँ समाप्ति हो जाती है, उसके आगे की भावनाएँ महादेवीजी की कविताओं में हैं। क्या कवि के उस काल्पनिक जगत का हमारे जीवन मे कोई अस्तित्व है? दिल्ली के कवि-सम्मेलन मे सभानेत्री के पद से महादेवीजी ने कहा था—"कवि के पास एक व्यावहारिक बाह्य संसार है, दूसरा कल्पना-निर्म्मित आंतरिक। परन्तु, वे दोनो परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूर्ति करते रहते है। एक कल्पना पर यथार्थता का रंग चढ़ाकर उसमे जीवन डालता रहता है, तो दूसरा वास्तविकता की कुरूपता पर अपनी सुनहली किरणें डाल-कर उसे चमका देता है।"

सुश्री वर्म्मा की कविताओ मे एक दार्शनिक अभिव्यक्ति है, किन्तु यह अभिव्यक्ति पूर्णत: भावमय है। यही कारण है कि वह पाठकों के हृदय को रसात्मक मालूम पड़ती है। उसमे कबीर की आध्यात्मिकता का भाव-पक्ष आधुनिक छन्दों और आधुनिक शब्दो में व्यक्त है। हाँ, उसमें मीरा का संगीत भी है। कबीर की निर्गुण भावना में उन्होंने मीरा के माधुर्य्य-युक्त सगुण-भाव का समावेश कर दिया है।

यो कहें, महादेवी की कविता सूफी भावना के ढंग पर सांसारिक प्रणय के रूपक मे आध्यात्मिक जीवन का ताना-बाना बुनती है। उसके लिये "जब कभी यह दृश्य जगत अव्यक्त (परमात्मा) से वियुक्त होता है, तब वियोग के कितने ही व्यापक और

रमणीय दृश्य दिखायी पडते हैं। जब कभी इसका उसके साथ सयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानो आनन्दोल्लास से नाच उठती है।"

हमलोग जिस प्रकार अपने विषाक्त दुख को भी एक मधुर गान का रूप दे देते हैं, उसी प्रकार महादेवी ने भी अपने हृदय की व्यथाओं को कहीं-कही भाषा की रगीन साड़ी पहना दी है, मानो पावस की नीलिमा को इन्द्रधनुष से शोभित कर दिया है। यदि वे ऐसा न करतीं तो उनकी व्यथाओं में सौन्दर्य नहीं रह जाता; उनका गाना केवल क्रन्दन-मात्र हो जाता।

एक बार मैंने कवि से कहा था—'आपकी कविता तितली के बहुरंगी पखों की तरह रंगीन जान पड़ती है, उसके पंख ओस के आँसुओं से भींगे हुए हैं।' कवि ने हँसकर कहा—'मुझे तितलियाँ बहुत प्यारी हैं भी।' 'रश्मि' में कवि की ये पक्तियाँ दीख भी पड़ीं—

"पलकों से पलकों पर उड़कर
ति त ली - सी अम्लान।
निद्रित जग पर बुन देती हो
लय का एक वितान॥"

ऐसी है उनको कविता, जो तितली-सी रगीन भाषा में अमूर्त्त 'लय' को भी मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न करती है। जापानी चित्रकारों की तरह उन्हे भी रंगों से बहुत प्रेम जान पड़ता है। उनका स्वभाव बहुत ही हँसमुख है, जो कि उनकी रुचि के

अनुकूल ही है। संगीत मे टेक की तरह वे अपने वार्त्तालाप के प्रवाह को हास्य से मनोरजक बना देती हैं। व्यक्तित्व की इस दिशा मे आपका कवि पन्त से कुछ साम्य है। अन्तर यह है कि पन्त ने पार्थिव जीवन के मन्थन से ओठो पर उर्म्मि-उल्लास लिया है, महादेवी ने आध्यात्मिक जीवन के मन्थन से। साथ ही पन्त के हँसमुख होने मे एक शिष्टाचारिता ( फार्मल्टी ) है, तो महादेवी में आत्म-विभारता।

महादेवी की कविताएँ पूर्णत: मिस्टिक हैं। उनमें इस वस्तु-जगत के रूप-रंग और चित्र तो अवश्य हैं; परन्तु वे उनकी मूल भावनाओ को व्यक्त करने के साधन एवं सङ्केत-मात्र है।

द्विवेदी-युग से छायावाद-काल तक की कविता के सारभूत कवि हैं—पन्त और महादेवी। पन्त ने सौन्दर्य को, महादेवी ने वेदना को जो श्रेष्ठतम कवित्व दे दिया है वह खड़ी-बोली के अब तक के काव्य मे एकच्छत्र है।

जन्म सं० १९६२ मे इन्दौर में हुआ। सन् १९३२ में प्रयाग यूनिवर्सिटी से आपने एम० ए० पास किया। गंभीर अध्ययन और मनन की आप विशेष पक्षपाती हैं। व्यक्तियों के अध्ययन में आपकी सूझ का मनोवैज्ञानिक परिचय मिलता है। इन दिनों प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में प्रिंसपल हैं। साहित्यिक जीवन में कविता और प्रत्यक्ष जीवन मे करुणा ( दुःखपूर्ण कविताओं की प्रतिध्वनि ) आपका ध्येय है। चित्र-कला आपकी 'हाबी' है। शेली आपका प्रिय कवि है।

---

# ग्रन्थमाला-कार्यालय के साहित्यिक प्रकाशन

| | | | |
|---|---|---|---|
| रामचरित-चिन्तामणि | २) | राष्ट्र-भारती | ॥) |
| साहित्य-सुषमा | ॥) | रिमझिम | १) |
| कलापी | २) | पद्य-प्रमोद | ॥।) |
| तुलसी-साहित्य | ॥) | नवजीवन | ॥) |
| सूक्ति मुक्तावली | ॥) | साहित्य-सौन्दर्य | ॥।) |
| उद्भ्रान्त प्रेम | ॥।) | खिलौना-घर | ॥।) |
| जीवन-यात्रा | ॥।=) | स्नेह-बंधन | ॥।) |
| निर्भय भीम व्यायोग | ≡) | सत्य हरिश्चन्द्र | ।-) |
| पुण्यफल | ॥) | साहित्यिकी | १॥) |
| शकुन्तला | ॥।) | महाभारतीय सुनीति कथा | ॥।) |
| हमारे साहित्य-निर्माता | १) | संस्मरण | १॥) |
| हृदय की ओर | २) | बुलबुल | ॥=) |
| मजदूरों की छाती पर | २) | रजकण | ॥।) |
| भाई-बहन | १।) | लालचीन | २) |
| विभेद | ॥।) | ग्राम-पंचायत | ॥=) |
| भूली हुई कहानियाँ | १॥) | खेती की कहावतें | ॥=) |
| प्रजातंत्र | १॥) | हिन्दी मुहावरे | २।) |
| गाँव के गीत | ।) | भारतीय ईश्वरवाद | ३) |
| हिन्दुस्तानी भाषा-कोष | १।) | शिक्षा-निबन्धावली | ।=) |
| मेरे यूरोप के अनुभव | ।=) | साहित्य-परिचय | ।-) |
| रघुवंश-सार | ॥=) | साहित्य-सुधा | ॥=) |
| साहित्यालंकार | ॥) | सम्मोहन विद्या | ॥।) |
| विहार का विहार | ॥।) | विहार-दर्पण | ५) |
| रामचरित-चन्द्रिका | ॥) | विहार के दर्शनीय स्थान | १॥) |
| काव्य-कुञ्ज | ॥।) | | |

आदि आदि